ईशावास्योपनिषद्

पर

प्रवचन

(पालघाट ७ जनवरी १९५४–२७ जनवरी १९५४)

स्वामी चिन्मयानन्द

अनुवादिका

शीला शर्मा
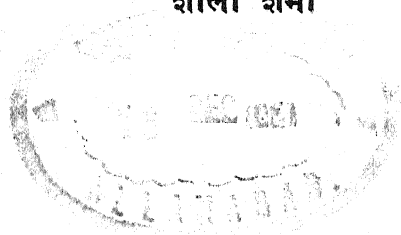
प्रकाशिका

श्रीमती शीला पुरी

नई देहली

दो शब्द

ईशावास्योपनिषद् के इन प्रवचनों तथा उनके इस अनुवाद का केवल यह अभिप्राय है कि साधारण जन-समुदाय अपनी इस प्राचीन निधि का रस पान कर सकें। इसी कारण उपनिषद के भावों को व्यक्त करते समय भाषा की सरलता पर विशेष ध्यान रखा गया है। आचार्यों को यदि उपनिषदों की गरिमा की दृष्टि से इसकी भाषा की सरलता व प्रवाह पर आक्षेप हो तो उनसे विनम्र क्षमा याचना है।

शीला शर्मा

अति सुन्दर। पर हमें क्या—वास्तव में जहाँ आवश्यकता भी नहीं है, वहाँ ऐसी प्रार्थी भावना रखनी भी चाहिए ? सरल भाषा की तो यह भाग्य है, जिसका आशीर्वाद हमारी भावी सन्तानों को मिल सकेगा।

ॐ चिन्मय

इस लम्बी सी भूमिका पर स्वामी जी के जो विचार थे वे वैसे के वैसे लिख दिए गए हैं।

शीला
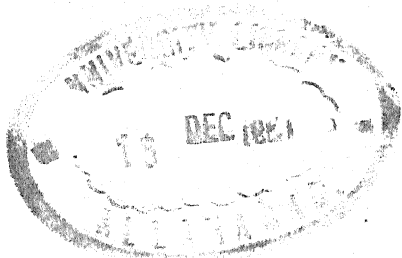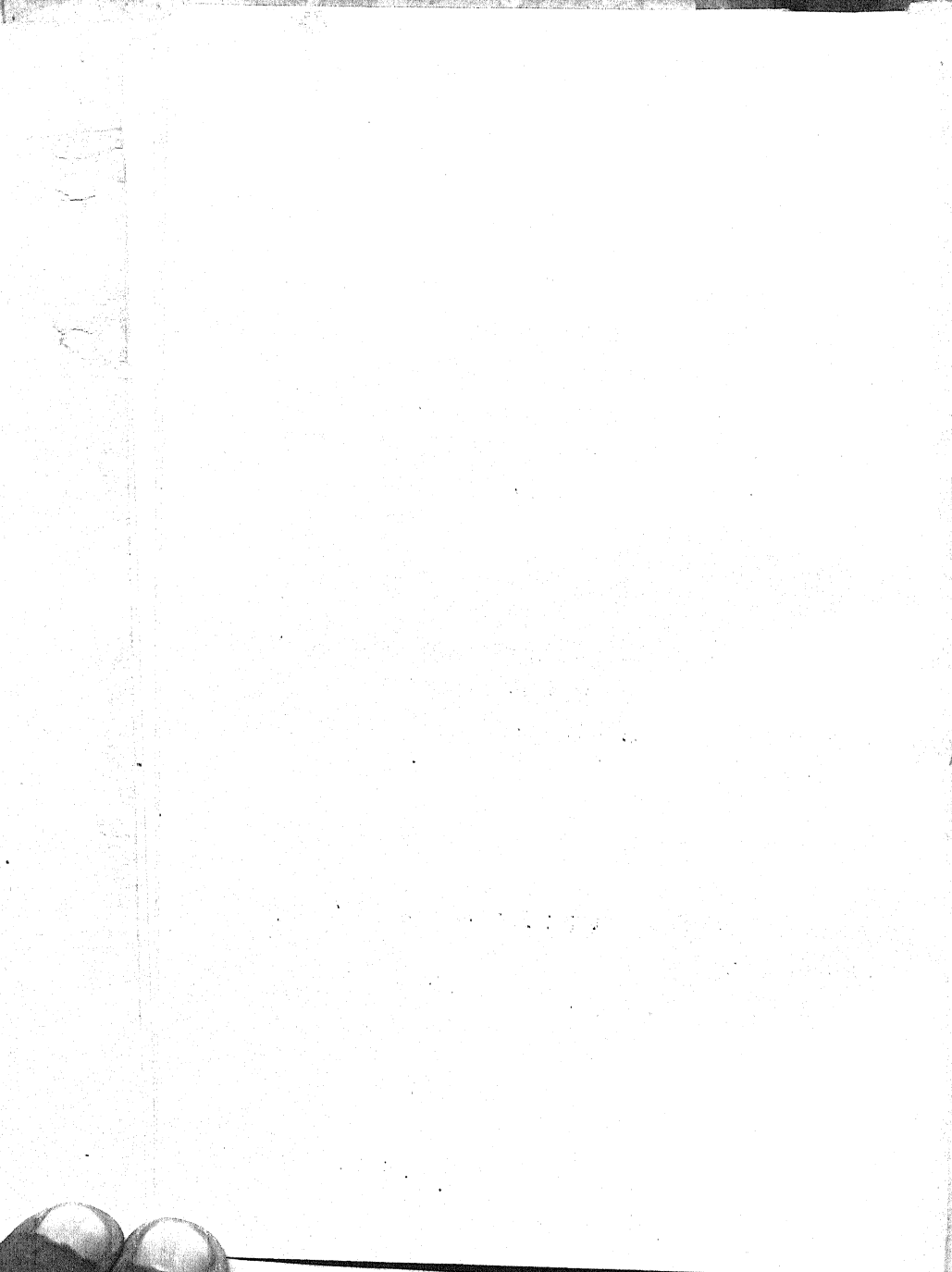
धर्म

जीवन का विज्ञान

पशु धार्मिक भावनाओं से रहित हैं। उनमें कोई धर्म प्रचलित नहीं। मनुष्य को चाहे जीवन के समस्त सुख ही क्यों न उपलब्ध हों, पर धर्म की आवश्यकता उसे अपनी मानसिक अशान्ति को दूर करने के लिए ही होती है। धर्म तो वह कला है, जिससे मनुष्य अपने मन व बुद्धि को साध कर विश्व की व्यापकता में उसका क्या स्थान है, इसका ज्ञान कराता है।

उन पूंजीपतियों को जो कि धर्म को धन से प्राप्त एक विलासिता-मात्र समझते हैं, वह वास्तव में उनको धन के बीच जो अशान्ति प्रतीत होती है, उसका बोधक है। पर वे उस ओर सत्संग व समझ से प्रेरित नहीं होते। धर्म तो उन सिद्ध प्राणियों के लिए है, जिनकी बुद्धि में अपने जीवनकाल में ही समस्त जीवों के जीवन को देखने की क्षमता होती है, और जिनके विवेक में इस संसार में एक कमी महसूस करने की शक्ति होती है, और जिनके अन्दर एक उच्च सन्तोष को प्राप्त करने की साध होती है। जब तक कि किसी प्राणी को बाह्य पदार्थों से एक निराशा का अनुभव, और अपने अन्तरतम में उसी निराशा का एक तीव्र अनुभव नहीं होगा तब तक वह जिस हालत में रह रहा है उससे बाहर निकलने का कभी भी प्रयत्न नहीं करेगा। साधकों के लिए धर्म केवल एक मार्ग प्रदर्शित करता है, और इस अभिप्राय से हिन्दू धर्म एक बहुत ही पूर्ण धर्म है क्योंकि उसमें आत्म-सिद्धता की पूर्णकला का वर्णन है।

अभी तक हमने जितना सुना उस पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है। "यह आध्यात्मिक अशान्ति केवल कुछ ही को क्यों होती है, और सब को क्यों नहीं होती।"

शास्त्र प्राणियों की व्यक्तिगत सिद्धता को ही उसका मूल कारण समझता है। जहाँ 'डार्विन थ्योरी' का अन्त होता है वेदान्त का श्री-गणेश ही वहाँ से होता है—कि मनुष्य धीरे-धीरे सिद्ध हो हो कर अन्त में 'पुरुषोत्तम' बनेगा।

डार्विन को तो शिलाशेषों के इतिहास ने विकास तथा अवयव-वृद्धि की झलक दी और उसी के आधार पर उन्होंने जीवित वस्तुओं का मान निकाल कर वर्गीकरण किया। उनके लिए पाषाण के जीवन से, वनस्पति का जीवन उच्च है; और वनस्पति जीवन से जीवों (पशुओं) का जीवन उच्चतर है और उन पशुओं में अभी तक मनुष्य का जीवन उच्चतम है क्योंकि उसके पास बुद्धि है। इसके बाद वह हमें हमारी कल्पना पर छोड़ देता है और वह कल्पना मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ मनुष्यत्व की कल्पना की ओर ले जाती है।

इस प्रकार वेदान्त के इन आचार्यों ने मनुष्य को तीन भागों में विभाजित कर दिया है:—

(१) पशु कोटि का मनुष्य (२) मनुष्य कोटि का मनुष्य (३) दिव्य कोटि का मनुष्य।

पशु कोटि का मनुष्य उस अवस्था में होता है जिसमें कि दास और कुत्तों के समान सेवकों, मूर्ख व आचरणहीन मनुष्यों की उत्पत्ति होती है, उनके लिए जीवन में धर्म तथा योगाभ्यास का कोई अर्थ नहीं होता क्योंकि उनकी चैतन्य अवस्था और अन्दर आँगन में बँधी हुई गाय की चैतन्यावस्था में कोई अन्तर नहीं होता।

कुछ लोग अपने आपको इससे अधिक चैतन्य अवस्था में ले आते

हैं और उन्हीं को मनुष्यों की कोटि में माना जाता है। ये वास्तव में धर्म के सच्चे साधक होते हैं और शास्त्र उन्हीं को अधिकारी मानता है और वे ही आध्यात्मिक जीवन के लिए योग्य माने जाते हैं।

यहाँ जब मैं अधिकारी शब्द कहता हूँ तो उसका वह अर्थ नहीं निकलता जो रूढ़िवादी लोग निकाला करते हैं जो इनके अन्तर्गत शास्त्रों में लिखी गयी अवस्थाओं, विज्ञान के धन को औरों से अलग रख कर केवल अपने लिए ही रखना चाहते हैं। हिन्दुओं का यह पतन आज उनकी केवल मूर्खता का कारण है। पुजारियों के उस समाज में जो कि अभी किसी धार्मिक काल में रह सके सुश्रुति मां के अर्थों का अनर्थ निकाल डाला है। और इस तरह से उन्होंने अपनी इस विचारधारा में वेदान्तों के एक ऐसे समुदाय को जन्म दे दिया है जो कि खच्चरों के समान ही अज्ञानी है। शोक इसी में है कि ये खच्चर आर्यों की ही सन्तान हैं। जैसे जैसे समय बीतता गया, बहुत से हिन्दू तो धर्म के विज्ञान से अपरिचित थे ही, पुजारियों ने भी अपने आपको इन श्रुतियों की पुस्तकों के पढ़ने से अपने ज्ञान को बढ़ाना छोड़ दिया और वे अपने प्राप्त ज्ञान को ही बहुत समझने लगे और इस प्रकार हम दोनों ही धर्माचार्यों तथा धर्मोपासकों के अज्ञान की उस परम्परा में पलते आये।

अज्ञान की उस परम्परा ने स्वयं पुजारियों को यह शक्ति दे दी कि वे इसका निर्णय करें कि वास्तव में अधिकारी कौन है। मित्रो ! यह तो बहुत ही असंगत बात है, एक अज्ञानी, अयोग्य, नश्वर को इसका अधिकार ही नहीं है कि वह एक साधक के धर्म के प्रति, उठती हुई पिपासा के प्रति, कोई निर्णय करे। हम सभी जो कि आजकल के आधुनिक कालिजों में पढ़े हुए हैं, जिनमें कि स्वयं सोचने की शक्ति है, जिनमें कि बुद्धि जाग्रत है, जिनके कि हृदय में भावनाएं व आचरण संयत हैं और जो कि आजकल के सैलानी युग में पले हुए हैं और जो

कि जीवन के उच्च मूल्य का अँकना चाहते हैं वे सभी उस आध्यात्मिक क्षेत्र के अधिकारी हैं।

अणुबम के भेद की सुरक्षा के लिए एक बड़ी सेना और शस्त्रों की आवश्यकता भले ही हो परन्तु उपनिषदों के नितान्त ज्ञान को जानने के लिए उसकी आवश्यकता नहीं है। उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व हमारे या आपके ऊपर नहीं है, स्वयं माता श्रुति हरएक ज्ञान-यज्ञ-शाला की रक्षा करती हैं। ज्ञान के उन भवनों में जहाँ कि आध्यात्मिक ज्ञान के उपदेश दिए जाते हैं किसी द्वारपाल की आवश्यकता नहीं है। अयोग्यों को उनका वातावरण अपने आप ही छाँटकर अलग कर देगा अगर भूल से कोई अयोग्य प्राणी उस भवन में चला भी आया तो वह इन महान श्रुतियों को सुन ही न सकेगा, क्योंकि उसका वातावरण एक दिव्यतर और सूक्ष्मतर कम्पन से जाग्रत हो उठता है और उसमें एक गौण मनुष्य रूप जैसा अधिक देर तक जगा ही नहीं रह सकता है।

मैं किसी छोटी सी बात का बतंगड़ नहीं बना रहा हूँ। आप किसी भी सभा में जाकर देख लीजिए जहाँ कि प्रवचन हो रहा हो, तो आपको ऐसे एक-दो व्यक्ति अवश्य ही मिल जाएंगे जो कि या तो दीवाल के सहारे या किसी खम्भे के सहारे सम्पूर्ण सतसंग से दूर आराम से ऊँघ ही रहे होंगे। ऐसे भी लोगों के लिए श्रुतियों ने दया कर यह उपदेश दिया है कि वे अपना समय इन सत्संगों में व्यर्थ में ही न नष्ट करें, परन्तु जाकर कुछ काम करें और इस प्रकार अपने को इस योग्य बनाएँ कि वे इन उपदेशों से कुछ लाभ उठा सकने के योग्य हो सकें।

श्रुतियों के अर्थ का अनर्थ मनुष्यों ने केवल अपनी आकांक्षा तथा विषय पूर्त्ति के लिए निकाला है। मुझे यहाँ इस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि इन यज्ञों के होने की घोषणा के पश्चात् मेरे पास पुराने रूढ़िवादी हिन्दुओं के बहुत से पत्र आये हैं जिन्हें

कि मेरी इस मूर्खता से बहुत चिन्ता हो गई है। बहुतों के अनुसार वेदान्त के उपदेशों को इस स्वतन्त्रता से बाँटकर मैं श्रुतियों की शुद्धता पर एक अत्याचार कर रहा हूँ।

ऊपर की बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन असहिष्णु रूढ़िवादियों का भय अकारण है और हिन्दुओं की यह जाग्रत अवस्था उनके इस बहाने से नहीं रुकेगी। प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य जिसमें कि आचरण व मानसिक शुद्धता है वह सब इस परम्परा का अधिकारी है। वेदान्त-हीन हिन्दूधर्म तो एक निर्जीव धर्म है। वेदान्त में तो जीवन के सभी अनुभवों का सार है। वह इतिहास के एक छोटे से काल से ही नहीं बल्कि गुरु और शिष्य की एक अनन्त परम्परा से मनुष्य के आन्तरिक और बाह्य अनुभवों के आधार पर धीरे-धीरे तैयार हुआ है। ज्ञान की यह अनन्त सम्पति किसी भी एक मनुष्य की या मनुष्यों के एक समुदाय की निधि नहीं हो सकती। वेदान्त तो हर एक मनुष्य का धन है। उन मनुष्यों के सामने जो कि उत्पति पर प्रश्न करने लगे हैं और तर्क-वितर्क करने लगे हैं जीवन का एक ध्येय है, उन सभी की इस तक पहुँच होनी चाहिए, धर्म, मत और राष्ट्रीयता, आयु और जीवन की अवधि इनके बीच में खड़ी नहीं हो सकती।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि मनुष्य कोटि की अवस्था से दिव्य कोटि की अवस्था में पहुँचने की सम्पूर्ण वैज्ञानिक कला हमें वेदान्त ही समझाते हैं। यों तो संसार के प्रत्येक धर्म अपने आधारिक नियमों से हमें पशु कोटि की अवस्थाएँ सिद्ध होकर मनुष्य कोटि की अवस्था मे आने की सिद्धता बतलाते हैं। परन्तु एक मनुष्य मनुष्य कोटि से निकल कर किस प्रकार अपने प्रयास से दिव्य कोटि में पहुँच सकता है और किस प्रकार विवेक के उच्चतर अभ्यासों, अध्ययनों (इथिकल ऐण्ड मारेल लिविङ्ग और डिटैचमेंट) के द्वारा उसे प्राप्त कर सकता है, इसकी कला हमें वेदान्त ही बतलाते हैं।

जड़वादियों के लिए तो यह जीवन एक तर्कहीन और अर्थहीन धारा मात्र है जो किसी प्रकार अपने प्रवाह में उन्हें गर्भ से कब्र तक ले जाते हैं। उनमें अपने को ऊपर उठाने की कोई भावना नहीं है, उनके लिए जीवन में कोई ध्येय नहीं है, न किसी सिद्धता की आवश्यकता है। अवश्य ही धर्म उनके लिए अफ़ीम है, अमीरों का षड्यन्त्र है, जनता के समय और धन का एक आश्रिक विनाश है। अवश्य ही अगर हम भैंसों को भी धर्म का उपदेश देना चाहें तो उनकी भी यही राय होगी।

मनुष्य को अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने की धारणा केवल इसी से चरितार्थ होती है कि केवल वह ही अपने प्रयास से उच्चतर कोटि की सिद्धि और आनन्द प्राप्त कर सकता है। वनस्पति और पशुकोटि के जीवों को तो तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक कि स्वयं प्रकृति माता ही उन्हें अपने हाथ में लेकर उन्हें दूसरी उच्चतर अवस्था में न ढाल दें। वे उपाय जिनसे कि मनुष्य अपने प्रयास से ही अपने को ऊपर उठा सकता है वास्तव में आध्यात्मिक जीवन के ही उपाय हैं।

निम्न कोटि के जीव तो रक्षा हेतु स्वयं अपनी भावनाओं के द्वारा कार्य करते हैं कुछ भी करो—"मारो, लूटो, चोरी करो पर अपने को बचाओ" निम्न कोटि के क्षेत्र का यही नियम मालूम पड़ता है मनुष्य कोटि में आने पर प्रकृति कह रही है कि जब तक तुम पशुकोटि के क्षेत्र में रहोगे तुम्हारा विकास नहीं होगा। अपनी भावनाओं को दबाओ तुम कभी हत्या नहीं करोगे, तुम कभी किसी को नहीं लूटोगे, तुम कभी चोरी नहीं करोगे चाहे मृत्यु के तट पर ही क्यों न खड़े होओ? नर्मी से उन्हें बर्दाश्त कर सकोगे। प्रेम, सहिष्णुता, नम्रता, दया इन उच्चतर नियमों को नहीं छोड़ोगे"। यही केवल वह सुहावना मार्ग मालूम पड़ता है जिसके द्वारा कि मनुष्य दिव्य मनुष्य की सिद्धता तक पहुँच कर आनन्द और शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

जहाँ तक कि अंग प्रत्यंगों का प्रश्न है, मनुष्य शारीरिक विकास

की दृष्टि से चरम सीमा को पहुँच चुका है यह तो सभी वैज्ञानिकों की राय है। अब दूसरा विकास आन्तरिक है। पशुता की बहुत सी ऐसी गौण भावनाओं की गुत्थियाँ हमारे हृदय और बुद्धि में उलझी हुई पड़ी हैं जिनकी कि हमें शुद्धि करनी है।

हमें आन्तरिक साधनों द्वारा उनकी शुद्धि करने के पश्चात् एक सजगता और चैतन्यता का अनुभव होगा। जिन नियमों से हम उन्हें प्राप्त कर सकते हैं वे सभी नियम आध्यात्मिक हैं चाहे वह किसी भी धर्म के क्यों न हों, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या बौद्ध।

एक बार जब मन और बुद्धि ने इन गौण उथल पुथल और अस्थिरता से अपनी सिद्धि कर ली तो प्राणी अपने में एक परम चैतन्यता का अनुभव करता है, वही पूर्णावस्था है। सब से अधिक गतिशील तथा क्षमता सम्पन्न, जैसा कि सब धर्म कहते हैं। "तत्त्वमसि" (तुम वह हो) बार बार वेदान्त पुकार पुकार कर यही कह रहे हैं और इस शरीर को सर्वस्व समझने की भ्रमपूर्ण धारणा का कि "हम अभी सब कुछ हैं" निषेध कर रहे हैं। यह तो कुछ ऐसा ही है जैसे कि कोई सम्राट शिशिर की ठण्डी और अन्धेरी रातों में अपने महल के बन्द द्वार पर खड़ा प्रतीक्षा कर रहा हो और अपनी मदान्धता से यह भूल गया हो कि उसी की जेब में उस दरवाज़े की ताली पड़ी है और उसको पूर्ण अधिकार है कि वह उस दरवाज़े को खोलकर अपने भावों की उष्णता, भव्यता और हर्ष का आनन्द लूटे।

यह श्रुतियाँ तो उन दरबारियों के समान हैं जो बार बार हमें यहाँ विनती करते हैं और हमें बार बार उसका स्मरण दिलाते हैं कि हम एक बार तो दरवाज़े पर चाबी लगाएं और द्वार खोलकर महल में प्रवेश करें, हमारे सारे दुखों का अन्त हो जाएगा। लेकिन हम अपनी पशुता से उत्पन्न मद के चक्करों में इतना अपने का भूल गये हैं कि

हममें सुनने के लिए न कान रह गये हैं, न समझने के लिए बुद्धि, न इतना साहस कि हम अपने ही साम्राज्य में स्वयं जाकर अपने पूर्वजों की सम्पत्ति का अधिकार माँग सकें।

इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन का श्रीगणेश ही वहाँ से होता है जब कि अपनी ही समझ से मनुष्य यह अनुभव कर लेता है कि उसके इन कीड़ों के समान जीवन में कितनी अपूर्णता है। जिसे कि शास्त्र 'आत्म कृपा' कहते हैं वह तो आध्यात्मिक मन्दिर का सबसे पहला द्वार है, परन्तु दुर्भाग्यवश हमारी इस भौतिक जगत की मानसिक और बौद्धिक अशान्ति और यहाँ से वहाँ की भगदड़ और हलचल हमें कभी इतना समय ही नहीं देती कि हम अपने इस जीवन को तौल सकें और उसकी अपूर्णता का आभास भी कर सकें। जीवन से मृत्यु तक मानों एक के पश्चात् दूसरी चाह हमें चाबुक लगाकर भगा रही है। कमाना और खर्च करना किसी प्रकार प्राप्त करना और फिर उसे जमा करने में ही हमने सारी शक्ति को नाश कर डाला है। और इसी में हम शान्ति और हर्ष को सदैव ही ढूँढ़ रहे हैं और कभी भी नहीं पाते। हमारे इस दिव्य जीवन पर जितना ही अचेतनता अपना अधिकार जताती है उतना ही पशुता के क्षेत्र में हम धंसते जाते हैं, फिर यह तो स्वाभाविक ही है कि हम मनुष्य जन्मजात अधिकार आनन्द और परिपूर्णता से उतनी ही दूर खिसकते ही जाएंगे। परम सुख मनुष्य का अनन्त स्वभाव है। केवल परम सुख ही मनुष्य का स्वरूप है। "तुम वह हो यह नहीं," प्रभावहीन अश्रुमय जीव ? वेदान्त के आचार्य बार-बार यही कह रहे हैं और यही उन्होंने सत्य की खोज में निजी अनुभवों से समझा है।

मेरे मित्रों ! मैं देख रहा हूँ कि आप लोगों के मन में एक प्रश्न उठ रहा है कि आखिर जीवन ऐसा क्यों है कि हम सदैव दुख से इतना लदे हुए और शोकातुर हैं, जब कि हमारा वास्तविक स्वरूप 'स्वयं

आनन्द है ?" इसका उत्तर तो प्रत्यक्ष है । हम वैसे आचरण ही नहीं कर रहे है जैसे कि वास्तव में हैं । हमें न तो बाह्य जीवन का ही ज्ञान है और न अपने वास्तविक आन्तरिक जीवन की चेतना का । जीवन तो हमारे क्षण क्षण के अनुभवों का एक क्रम है । जीवन में एक अनुभव प्राप्त करने के लिए हमें तीन चीज़ों की आवश्यकता पड़ती है।

१—कार्य, २—कारण और तीसरा इन दोनों के बीच का संबंध ।

अपने वास्तविक जीवन के अज्ञान के कारण हम वाह्य चीज़ों से अपना सम्बन्ध गलत स्थापित करते हैं, वही हमारे दुखों का मूल कारण है । वास्तव में वाह्य पदार्थ तो एक जड़ पदार्थ है जो न तो हमें सुख दे सकते हैं न दुख । पर शोक तो इसका है कि हम उन्हें अपनी ही शक्ति दे कर उनमें इतनी शक्ति डाल देते हैं कि वे हमको अपनी चंगुल में पकड़ कर दुख दें ।

गङ्गा में स्नान करते हुए एक मनुष्य ने एक चमकती हुई चीज़ देखी । वह तैर कर वहाँ तक गया और उसको पकड़ने लगा तब उसे ज्ञान हुआ कि वह तो एक मलक्का केन की छड़ी थी जिसमें एक चांदी की मूठ लगी थी । वह छड़ी को हाथ में ले कर तैरने लगा तो वह एक भयानक भ्रमर में पड़ गया और छड़ी छूट गई । छड़ी धारा में फिर बह निकली । तट पर पहुँच कर वह मनुष्य उस छड़ी के लिए फूट फूट कर रोने लगा । वह छड़ी तो धारा में बिना इस मनुष्य को कोई कष्ट दिए हुए भी बहती रहती । पर एक बार उस तक पहुँच कर, उसको अपना बनाकर और फिर खोकर, इस मनुष्य ने अपने को दुखी कर लिया । इस प्रकार जीवन का एक सम्बन्ध उस छड़ी और इस मनुष्य के बीच स्थापित हो गया था और उस छड़ी को उसने इतनी शक्ति दे दी कि वह उस मनुष्य को दुख पहुँचा सके ।

इस प्रकार जीवन में भी अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान के कारण और बाह्य पदार्थ जो हमारे चारों तरफ हैं, हम एक झूठा सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं और फिर हमें उससे दुख और शोक होता है।

कल हम इसका प्रयास करेंगे कि हम अपने लौकिक, भौतिक व्यक्तित्व का विवेचन करें और समझें। इसका पूर्ण ज्ञान ही हमें ठीक मार्ग दिखा सकता है कि बाह्य पदार्थों से हमारा क्या सम्बन्ध होना चाहिए।

यज्ञ क्यों ?

कुछ बुद्धू, झक्की और अन्ध विश्वासी लोगों को छोड़कर हम लोगों में से बहुत कम एक सरसरी दृष्टि से यह समझ सकते हैं कि धर्म के पीछे कोई विज्ञान भी है और इसका जीवन से भी कोई सम्बन्ध है। यह कहना कि धर्म निर्जीव है, सत्य ही है और यह भी सत्य है कि यह हमारे जीवन के प्रश्नों को और भी उलझा देता है। अगर धर्म से हमारा तात्पर्य उस धर्म से है जो हमें झक्की और कर्तव्य विमुख बनाता है, जो कि मन्दिरों के गुम्बज़ों में अन्ध विश्वास और मूर्ख अनुयायियों में ही फँसा रह गया है तो अवश्य ही हमारा सर्वोत्तम दर्शनशास्त्र भी मृत के ही बराबर है। अपनी शक्ति और (गतिशीलता) को खोकर जो धर्म केवल कुछ के हाथों का खिलौना बन गया है और वह उनके हाथों में वह भयानक शस्त्र बन गया है जिससे कि वे पूरी (जाति) जनरेशन को अन्ध विश्वास, भय, कर्तव्य विमुखता और गलत विचार सिखलाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि धर्म अन्ध विश्वास है या विज्ञान ? धर्म शान्तिकारी संदेश है या विनाशकारी सुरक्षा यन्त्र ? ईश्वर की खोज प्रेम की पुकार है या धूर्तता ? श्रुतियों के शब्द अमृत हैं या ज़हर ? प्रेम और दया का जीवन एक नये जीवन का संचार करता है या केवल जीवन को सुप्त बना देने के लिए एक नशीली खुराक है ?

वास्तव में आज इसी पर खोज करने के लिए ही और किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए हम इस यज्ञशाला में इकट्ठे हुए हैं। यहाँ विस्तार-

पूर्वक हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तकों,उपनिषदों का सम्पूर्ण अर्थ और (अभि-प्राय) समझेंगे। इन २१ दिनों के में हम ईशावाष्योपनिषद् का एक-एक मन्त्र लेकर उसका विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। खोज और समझ के स्पष्ट विचार से हम निर्भीकता से इस पुस्तक का अनुसन्धान करेंगे। आधुनिक काल में धर्म और श्रुतियों के प्रति बहुत से प्रश्न उठते हैं। जीवन की व्यस्तता के कारण हमें इतना समय ही नहीं होता, न इतना सब्र ही कर पाते हैं कि हम यह आभास कर सकें कि इन श्रुतियों के आचार्यों, चाहे वे अवतार हों, या स्वयं ईश या केवल नश्वर दार्शनिक हों, अपनी सहायता से हमारा जीवन सुखमय बना सकते हैं।

क्लब के बरामदे, जनता की आम सभाओं, विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों, आदि स्थानों में जहाँ पर अध्ययन होता है या केवल वादा-विवाद, हम आजकल एक समुदाय को निकलते हुए, चलते हुए प्रश्न सुनते हैं, क्या उपनिषदों को अक्षरश: समाप्त कर दिया जाए? क्या श्रुतियों को जीवन दान दिया जाए? क्या श्रुतियाँ हमारी कोई सेवा कर सकती हैं? हम इन सब प्रश्नों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे, इनकी खोज के विचारों से यह देखेंगे कि यह ईशोपनिषद धार्मिक पुस्तक उनकी कहाँ तक पूर्ति कर सकती है।

आपसे मेरी यह प्रार्थना है कि यज्ञ के इन दिनों में मुझे कोई विशेष प्राणी न समझ बैठें जिसमें कोई विशेष शक्ति है या कोई विशेष दिव्यता है। मैं कोई गुरु नहीं हूँ और न आप लोग शिष्य हैं। हम दोनों तो सहपाठी हैं और इस ज्ञान के कमरे में दोनों साथ-साथ सह भावना से, ऋषियों के महान ज्ञान की खोज करने के लिए उतरे हैं। हम तो सच्ची साध, भावना और सहयोग से साथ-साथ एक यात्रा कर रहे हैं। इस पुस्तक में प्रवेश करने के पहले यह आवश्यक है कि हम इन महान विषयों के कुछ आधिकारिक नियम समझ जाएं।

आइये थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि धर्म संसार के लिए एक शान्ति-मय सन्देश है और यह वैज्ञानिक है, यह केवल एक धारणा ही है। अगर अपनी खोज में हमने यह पाया कि यह सत्य नहीं है तो हम जगत के सामने अपनी खोज की घोषणा कर देंगे। परन्तु अगर हमने यह खोज लिया कि धर्म जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक व्यवहार है तो हम उन उच्च नियमों का पालन करने का प्रयास करेंगे और फिर संसार के सामने धर्म का वास्तविक अर्थ घोषित कर दगे।

इस प्रकार ज्ञान यज्ञ एक पुनरुत्थान क्रिया है। इसका अभिप्राय एक ऐसा समुदाय बनाने का नहीं है जो रेशम के कीड़े के समान अपने ही तार को अपने ही चारों ओर लपेटे और फिर उसमें दबकर मर जाए। पहले तीन दिनों में हम आमतौर से उसके अभ्यास को ही लेंगे। इस पुस्तक को जिसको कि हमने आज अध्ययन के लिए छाँटा है समझने के लिए उसकी विशेष आवश्यकता है। इसके पश्चात् हम स्वयं ईशा-वाष्योपनिषद् में ही डुबकी लगा जायँगे।

जब हम विज्ञान और धर्म इन दोनों को समझने का प्रयत्न करते हैं तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में ही एक विशेष समता है। दोनों ही लगन के साथ पूरे समुदाय और पीढ़ी की सेवा में तत्पर हैं, और दोनों ही जीवन में अधिक से अधिक सुख भरना चाहते हैं। धर्म को हम कितना ही अपूर्ण और बेढ़ंगा क्यों न मानें, यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रत्येक धर्म में जिस काल से उसका जन्म हुआ है उस काल और उस पीढ़ी की सेवा की है। अवश्य ही वह उस धर्म की वसन्त ऋतु थी। बाद में वह समाज धीरे-धीरे बदलता गया और बदलते हुए समय के साथ साथ उसमें भी इतना परिवर्तन हो गया कि उसमें नये नमूने ही बन गए। अवश्य ही फिर इस अधिक विकसित समाज के साथ वह पुराना धर्म अपनी उसी अवस्था में रहकर कहाँ सेवा कर सकता था।

मनुष्य का व्यक्तित्व

अभी तक हमने जीवन के नियमों और इस संसार में अपनें अनुभवों के स्वरूप पर केवल एक विहंगम दृष्टि ही डाली है। हमें इसका आभास हुआ कि जीवन अनुभवों का एक क्रम है—दोनों ही के लिये चाहे कोई आध्यात्मिकवादी हो व भौतिकवादी पर इन दोनों में जरूर अन्तर है। जड़वादियों का विश्वास है कि जीवन एक 'जन्म सी' आकस्मिक घटना से प्रारम्भ होकर उसी के समान एक लक्ष्य हीन घटना 'मृत्यू' पर समाप्त हो जाता है। उनके लिए प्रत्येक प्राणी का जीवन उस तीर के समान है जो अन्धकार में से अचानचक निकल कर फिर अन्धकार में विलीन होने के मार्ग में थोड़ी देर के लिए प्रकाश में आ जाता है। जीवन के अस्तित्व की यह परिभाषा जिन्हें स्वीकार है अवश्य ही उनका दर्शन शास्त्र तो केवल इतना ही होगा कि 'खाओ, पियो और मस्त रहो।' क्योंकि उन्हें मृत्यु के पश्चात् क्या है इसका ज्ञान ही नहीं।

दूसरी ओर आध्यात्मिकों का मत है कि जीवन विकास का एक क्रम है, उसके पीछे एक ध्येय और अकाटच तर्क है। हम सब का जीवन एक कार्य्य है और क्योंकि हर एक कार्य का एक कारण होता है। हमारे जीवन का अवश्य ही एक कारण होगा। हालांकि उस कारण का अभी हमें आभास नहीं हो पाता है। इस कारण बुद्धिवान व लग्नी जीव के लिए यह वर्तमान जीवन उसके अनन्त जीवन की एक घटना है। ऐसे मनुष्यों के लिए जीवन के पीछे एक अर्थ तथा एक ध्येय है। हम यह भी देख चुके हैं कि पश्चिमीय दार्शनिक किस प्रकार अपने वस्तुओं के निजी अनुभव में उसका अनुभव कर चुके हैं। डार्विन दिव्य पुरुषों की कल्पना करते हैं। उपनिषदों के महान ऋषी हमें यह समझाते हैं कि यह जीवन अपने आप को विकसित करके अन्त में दिव्य पुरुष बना लेने के ध्येय से ही बिताया जाता है। यह जीवन एक ललकार है

जिसका मुकाबला मनुष्य करता है। हम यह भी जानते हैं कि अनुभव की सम्भावना वहीं हो सकती है जहाँ विषयी व विषय के बीच कोई सम्बन्ध हो। आज हम अनुभव करने वाले का स्वभाव समझने का प्रयत्न करेंगे।

शरीर विज्ञान मनुष्य को एक ऐसा ढाँचा समझता है जिसके कि मस्तिष्क है और अनुभव करने व सोचने की शक्ति है। यह लौकिक-भौतिक शरीर जिसकी कल्पना हमारे प्राचीन कवियों ने की हमारे पाश्चमीय दार्शनिकों की समझ के परे है। वेदान्तिक ऋषियों की जो धारणा थी, वह चित्र रूप में दूसरे पृष्ठ पर दी जा रही है।

यह तो मानी बात है कि केवल यह भौतिक शरीर कोई भी हरकत नहीं कर सका है जब तक कि उसके अन्दर व्याप्त जीवन तत्व उसे कोई आदेश न दे। एक मृत शरीर न मुस्करा सका है न खा सका है, न चल सका है, न अनुभव कर सका है और न सोच ही सका है। एक बार जब जीवन निकल गया तो प्राणी मृत होकर गिर पड़ता है और फिर थोड़े से ही समय के पश्चात् शरीर सड़ कर उन तत्वों में मिल जाता है जिनसे कि उसका जन्म हुआ था। अपने जीवन काल में मनुष्य कितना भी महान क्यों न हो पर उसका भी यह अन्त ध्रुव है। हमारे शरीर का जीवन तत्व ही वह पुण्य तत्व है जिससे सब क्रियाओं का श्रीगणेश होता है। अगर वह जीवन तत्व न हो तो अभी इस स्वामी के सारे प्रवचन समाप्त हो जाएं। जिसे आप सभी अभी सुन रहे हैं और अपनी बुद्धि में उसे समझते रहे हैं और उसका विवेचन कर रहे हैं। अगर अभी 'जीवन-तत्व' हमारे जीवन में न होता तो यह सब सुनना, समझना व विवेचन करना सम्भव न होता।

यह दिव्य जीवन तत्व, आध्यात्मिक केन्द्र जिसे कि वेदान्त में आत्मा कहते हैं, भिन्न भिन्न मात्रा के गौण-कोषों से लिपटी हुई है। सबसे बाह्य आवरण सबसे अधिक गौण है और हम अपने सारे जीवन काल

में उसी को अपना असल स्वरूप समझने के भ्रम में पड़े रहते हैं । हम में से बहुत कम को अपना मानसिक व बौद्धिक अस्तित्व मालूम है और फिर उससे परे जीवन तत्व का अस्तित्व, जो कि आनन्द की निधि है, किसी बिरले ही को ज्ञात होगा।

चित्र में ओ३म का रहास्यात्मक आकार देकर आत्मा का स्थान दिया गया है। वही हम हैं—और वही हमारा वास्तविक स्वरूप है सर्वव्यापी व सर्वज्ञ। एक प्रकार से इस जीवन तत्व पर कई प्रकार के पर्दे पड़े हैं जिन्हें कि वेदान्त का भाषा में कोष कहते हैं। कोष शब्द का अर्थ इस ओर संकेत करता है कि जिस प्रकार तलवार और उसकी म्यान में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार इस अनन्त दिव्य जीवन तत्व व उसके वाह्य कोषों में कोई सम्बन्ध नहीं है। उस तत्व की उपस्थिति में ये बाहर के आवरण जीवन प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार पाँच मुख्य कोष हैं। अन्नमय कोष सबसे वाह्य है उसके पीछे प्राणमय कोष है और उसके अन्दर मनोमय कोष है, उसके पश्चात् विज्ञानमय कोष है और आनन्दमय कोष सवसे परे है।

इसके पहले कि हम इन कोषों के स्वरूप पर प्रकाश डालें। आइये पहले यह समझ लें कि दर्शन शास्त्र में आन्तरिक शब्द का क्या अर्थ है। जब हम यह कहते हैं कि एक कोष दूसरे से अधिक आन्तिरिक है तो उसका वास्तविक अभिप्राय यह होता है कि वह उससे अधिक सूक्ष्म है। कोष की सूक्षमता उसकी व्यापकता से नापी जाती है—उदाहरणार्थ अगर हमारे पास ४ फिट वर्गकोष का बर्फ का एक टुकड़ा है तो जितना स्थान उसने लिया है वह नपा हुआ है। परन्तु उसके पिघल जाने के पश्चात् अब वह जल हो जाता है, तो वह अधिक क्षेत्र में व्याप्त हो जाता है और इस प्रकार दर्शन शास्त्र की भाषा में हम यह कह सके हैं कि जल से हिम अधिक सूक्ष्म है। और मानिये कि अब जल को गर्म

कर के हम भाप बना लेते हैं तो भाप तो सारे कमरे के वातावरण में फैल जाती है तो हम उसे जल से भी सूक्ष्म मानते हैं ।

इसी प्रकार यह भौतिक शरीर सबसे गौण है । जीवनदायिनी वायु जो हम श्वास के द्वारा ग्रहण करते हैं, अगर बाहर निकालें तो अधिक क्षेत्र में व्याप्त हो जाएगी । इसी कारण हम प्राणमय कोष को अन्नमय से अधिक सूक्ष्म मानते हैं । अवश्य ही हमारा मन उन क्षेत्रों में पहुँच सका है जहाँ वायु नहीं पहुँच सकी है और इसी कारण हमारी बुद्धि अपनी कल्पना से वहाँ पहुँच सकी है जहाँ मन नहीं पहुँच सका । इसी कारण हम मनोमय कोष से विज्ञानमय कोष को सूक्ष्म व सूक्ष्मतर मानते चले आए हैं । इस प्रकार सूक्ष्मतम आत्मा है वह सब में व्याप्त है और उस पर कोई व्याप्त नहीं है ऐसा श्रुतियों का कथन है—वह सर्वव्यापी है ।

अब हम भिन्न भिन्न कोषों के संगठन पर विचार करेंगे ।

अन्नमय कोष—अपनी जाग्रत अवस्था की चेतना में जिस बाह्य शरीर का हम सभी आभास करते हैं वही अन्नमय कोष है । उसका नाम अन्नमय कोष इस कारण पड़ा है क्योंकि वह पिता के खाए हुए अन्न द्वारा उत्पन्न हुआ है । वह जीवित भी भोजन के आधार पर है और अन्त में मृत्यु के पश्चात् वह फिर भोजन बनने के लिए ही नष्ट हो जाता है । इस प्रकार भौतिक शरीर का अस्तित्व अन्न में उत्पन्न होना, अन्न में जीवित रहना और फिर अन्न बन जाने के लिए ही नष्ट हो जाना है । इस कारण उसके लिए 'अन्नमय कोष' कहलाना स्वाभाविक ही है । ज्ञान इन्द्रियाँ व कर्म इन्द्रियाँ इसी में निवास करती हैं ।

प्राणमय कोष—हम सभी जानते हैं कि श्वास द्वारा वायु हमारे शरीर में प्रवेश करके हमारे रुधिर से मिलकर हमारे भौतिक शरीर के प्रत्येक अणु (Cell) में पहुँच जाती है । अधिक सोचे बगैर ही हम यह

आसानी से समझ सके हैं जो "ओक्सीजन" हमारे शरीर में निरन्तर जाती रहती है वह बाहर के गौण शरीर के लिए अन्दर एक हल्की सी रेशमी जाली बना लेती है। यह प्राणमय कोष सब इन्द्रियों पर नियंत्रण रखता है—वे इन्द्रियाँ जो कोई भी भिन्न भिन्न क्रियायें बनाती हों—इसी कारण वेदान्त का विज्ञान उन्हें पाँच भिन्न-भिन्न नामों से पुकारता है और उनको पंच प्राण कहता है।

मनोमय कोष—हम सभी इससे अनभिज्ञ नहीं हैं कि हमारे अन्दर एक मन भी है। मन वह केन्द्र है जिससे विचारों का अनन्त प्रवाह निरन्तर निकलता रहता है और जिससे कि भ्रम, हर्ष, इच्छाओं इत्यादि को जन्म मिलता है। मन भ्रम उत्पन्न करता है और बुद्धि उस भ्रम का निवारण करती है। मन अपनी उड़ान में सुनी व देखी चीज़ों तक पहुँच सका है और अपनी इसी व्यापकता के कारण उपरोक्त अन्य कोषों से सूक्ष्म माना जाता है।

विज्ञानमय कोष—वेदान्तिक साहित्य में हम बहुधा देखते हैं कि मन और बुद्धि को एक ही मान कर चला जाता है। जब बुद्धि किसी निश्चय पर पहुँचती है तब मन ही बुद्धि हो जाती है। बुद्धि को मन से सूक्ष्म इस कारण माना जाता है क्योंकि वह अपनी व्यापकता में उन दोनों की भी उड़ान कर लेता है जो कभी देखी व सुनी भी नहीं गयी हैं। अभी तक जो क्षेत्र हमारे अनुभव से वंचित रहा है, उसके आनन्द विचरण का क्षेत्र वही है। इसी कारण हम बुद्धि को मन के अन्दर का सूक्ष्म कोष मानते हैं।

आनन्दमय कोष—हम अपनी चेतन अवस्था की प्रगाढ़ निद्रा में जिससे अनभिज्ञ व अपरिचित रहते हैं यह कोष वही है। इसका नाम आनन्दमय कोष इस कारण पड़ा है कि प्राणी अपने इस जाग्रत स्वप्न मय अवस्था जीवन में कुछ भी हो, धनी व निर्धन, निराश व सफल, रोगी व स्वस्थ, वृद्ध व युवा सभी उस तक पहुँचने पर एक सी शान्ति

और एक से आनन्द का अनुभव करते हैं। एक साधारण गौण बुद्धि के लिए यह अवस्था एक 'कुछ भी नहीं' की अवस्था है। अपनी इस प्रगाढ़ निद्रा की जाग्रत अवस्था में प्राणी एक ऐसे आनन्द का अनुभव करता है कि उसमें उसके पिछले अनुभव लौटकर नहीं आते। परन्तु वह एक आनन्द का अनुभव निश्चय ही करता है।

हमारा जीवन तत्त्व ही सूक्ष्मतम है। और वही इन पाँचों कोषों के बने ढांचे का मूल है। ये पाँचों कोषों के स्वरूप-चित्र का हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं—अनन्त-जीवन तत्त्व के साथ—जो कि उसका मूल है मिलकर इस भौतिक-लौकिक शरीर के जन्मदाता हैं जो कि हम व आप हैं। मनोमय कोष व विज्ञानमय कोष जितना ही अधिक शुद्ध व निर्मल होगा, उतना ही इन्द्रियाँ अधिक चैतन्य अभिव्यक्त करेंगी।

पाषाण योनि बुद्धि से पूर्णत: वंचित रहती है, इसी कारण उन में चेतनता नहीं है। वनस्पति योनि में वेदान्त थोड़ा जीवन स्वीकार करता है इसी कारण उस क्षेत्र में हमें पाषाण की जड़ अवस्था से अधिक चेतना दिखाई पड़ती है। पशुयोनि में मन और बुद्धि अधिक स्पष्ट हो जाते हैं इसी कारण हम उन में चेतना की भी वृद्धि पाते हैं—यह मनुष्य योनि में अपने पूर्ण विकसित रूप में पाया जाता है।

मन व बुद्धि जितनी ही अधिक विकसित और जाग्रत होते हैं उतनी ही तीव्र और विकसित चेतना प्राणी की होती है। सन्त और मसीहा वे ही हैं जिनकी चेतना अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गई है। श्रुतियों का कथन है कि "ब्रह्म विद् ब्रह्म भवति" ब्रह्म को समझने वाला ही ब्रह्म बन जाता है—परम चेतना जो कि वास्तव में हम सब में जीवन देने वाली आत्मा है उसका समझना ही जीवन का ध्येय है, उसका समझना है विकास का चरम अन्त और उसको समझना ही मनुष्य को देव पुरुष बनाता है।

वास्तव में तो हम केवल यह जीवन तत्त्व ही हैं। परन्तु अपने अज्ञान के कारण अपने बाह्य कोषों को अहम् समझने के भ्रम में पड़े हुए हैं और इस प्रकार तीन भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व मे तीन भिन्न-भिन्न प्राणी होने का आभास करते हैं। भौतिक शरीर से संबन्ध जोड़ कर हम में अहम् भाव होता है तो उसे हम विश्व कहते हैं; सूक्ष्म शरीर से अहम की भावना होने पर उसे 'तेजस' कहते हैं। कारण शरीर से संबंध होने पर उसे प्राज्ञ कहते हैं। अधिक विवरण के लिए स्वामी जी द्वारा लिखित प्रवचन मण्डूक उपनिषद् पढ़िये।

इस प्रकार जब हम यह कहते हैं कि 'मैं बड़ा काला हो गया' या 'मैं ब्राह्मण हूँ' या 'मैं नाटा हूँ' तब हम शरीर से अपना सम्बन्ध रख कर बोलते हैं। और दूसरे क्षण जब हम यह कहते हैं कि 'मैं भ्रम में पड़ा हूँ', 'मैं उद्विग्न हूँ', 'मैं परेशान हूँ' उस समय हम अपना सम्बन्ध मस्तिष्क से कर लेते हैं, और इसी प्रकार यह कहते समय कि 'मुझे एक विचार आया', 'मेरी समझ में नहीं आया' हम अपना परिचय बुद्धि से जोड़ लेते हैं।

ऐसा लगता है मानो हमारे अन्दर एक भीड़ जमा हो। इस प्रकार वाह्य कोषों से सम्बन्ध स्थापित करके हम अपने को स्वयं ही मूर्ख बनाते हैं और फल स्वरूप बन्धन, दुःख और अशान्ति मे अपने को फंसाए रखते हैं। इस प्रकार यह संसार हमारी अपनी ही रचना है, और इसी कारण अपने दुखों और बन्धनों का सारा उत्तरदायित्त्व हमारे ही ऊपर है।

हमारे जीवन काल में हमारे अन्दर इन भिन्न-भिन्न वयक्तित्वों की उथल-पुथल स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यह तो आम तौर पर देखा ही जाता है कि हम सभी अपने आन्तरिक कोष की रक्षा के लिए अपनें बाह्य कोष की बलि देने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते हैं। उदाहरणार्थ

अगर किसी की बाँह में दुखद पीड़ा देने वाला एक फोडा निकल आया हो और उससे उसके मन को निरन्तर पीड़ा हो रही हो तो अगर डाक्टर उसे यह राय दे कि अपना हाथ कटवा दो तो वह उस को कटवा देगा। तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने मन की शान्ति के लिए अपने गौण शरीर को कटवा देने को तैयार हो जाता है।

दूसरे उदाहरण में अगर किसी की बुद्धि में कोई धार्मिक व राज-नैतिक विचार घर कर जाता है तो वह क्रान्तिकारी सारी शारीरिक असुविधाएँ व कष्ट झेलने के लिए प्रस्तुत रहता है; केवल इसलिए कि उसकी बुद्धि के विचार वैसे ही बने रहें। तात्पर्य यह है कि जब वह अपना सम्पर्क अपनी बुद्धि से कर लेता है तब अपने आन्तरिक कोष की शान्ति के लिए अपने बाह्य कोषों के सुख व आवश्यकताओं से बिल्कुल विमुख हो जाता है।

अगर आपने इस तर्क को अभी तक समझा है, तब तो यह आप आसानी से समझ जावेंगे कि ये महान् ऋषि व मसीहे एक बार अपना वास्तविक स्वरूप 'आत्मा' को जानने के पश्चात् क्यों शारीरिक सुखों की ओर से विमुख हो जाते हैं, और अपने बाह्य कोषों को आसानी से खिचवा तक सके थे। सूली पर चढ़े हुए ईसा मसीह सच में श्रद्धा के साथ ईश्वर से यह प्रार्थना कर सके हैं कि "हे ईश्वर इन्हें क्षमा करो— ये जानते नहीं कि ये क्या कर रहे हैं।" और फिर स्वयं हमारे ही काल में एक महात्मा अपनी छाती पर गोली की वर्षा सहते हुए 'राम-राम' की धुन गाते हुए ही धराशायी हो सके हैं।

इतिहास में हम पढ़ते आए है कि सिकन्दर की भारत भूमि पर विजय से बढ़ती हुई सेना के सम्मुख उत्तर भारत के एक महान् पुरुष ने नमस्कार करने से इन्कार कर दिया। उसके दण्ड स्वरूप वह जेल में डाल दिया गया। दूसरे दिन सिकन्दर उस जेल में गया और 'भारत का विजेता' कह कर उसने अपना परिचय दिया और उस महात्मा को

यह आज्ञा दी कि वह कोई वरदान माँगे । कहा जाता है कि उस सन्यासी ने घोर घृणा से उस सम्राट् की ओर देखकर प्रशान्त शान्ति से उत्तर दिया "कि तुम सूर्य की किरणें रोक रहे हो थोड़ी देर के लिए एक किनारे हट जाओ" मैं तुम से यही वरदान माँगता हूँ । आत्म ज्ञान केवल हमारा भ्रम और अज्ञान ही दूर नहीं करता परन्तु वह दिव्य पुरुषत्व की ओर बढ़ने की सोपान की पहली सीढ़ी भी है ।

इन उपनिषदों के ऋषियों ने यह स्वप्न देखा था कि हिन्दू धर्म का प्रत्येक अनुयायी देव पुरुष होगा—अपनी घटनाओं का व वातावरण का स्वामी होगा—और हम में से एक एक कैसे उसकी प्राप्ति कर सका है वही उपनिषदों में लिखा है । ज्ञानयज्ञ तो आध्यात्मिक कर्म है जिससे हमारी पशुता का नाश हमारी विवेक की प्रज्वलित अग्नि करती है । हमअभी नीचता और ओछेपन का ही मूल्यांकन करते हैं क्योंकि हम अपने बाह्य आवरण को ही 'हम वही हैं' समझ बैठे हैं और हमारी सारी दृष्टि ही दूषित है । हम किस प्रकार बाह्य कोषों से परे जाकर अपने अन्दर ही अपनी खोज कर सके हैं यही हमारी कल की वार्ता होगी । आप आश्चर्य करते होंगे कि आखिर इतनें विस्तृत वर्णन जाननें की आवश्यकता ही क्या है ? क्या जैसा कह दिया गया वैसा कर लेना ही काफ़ी नहीं है । एक साधक का ऐसा प्रश्न भी है । मित्रो ! श्रद्धा अवश्य ही साधक की सबसे बड़ी सहायक है । परन्तु अन्ध-विश्वास जिसका जन्म भय से हुआ और जो अज्ञान में पला, दासता की सबसे कठोर शृंखला है । ज्ञान, साधना में एक ऐसी धार पैदा कर देता है कि वह यात्री को वायु सी गति, नीर सें लक्ष्य और विमान के से सुख से पार उतार देता है ।

ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

सूक्ष्म शरीर

कल भौतिक-लौकिक शरीर का विवेचन करते समय हमने पाँचों कोषों की चर्चा की थी। वे अध्ययन की सुविधा के लिए फिर तीन भागों में बाँट दी गयी हैं। गौण, सूक्ष्म तथा कारण। अन्नमय कोष तथा प्राणमय कोष मिलकर गौण शरीर बनते हैं तथा मनोमय कोष व विज्ञान मय कोष मिलकर सूक्ष्म शरीर बनते हैं और आनन्दमय कोष से कारण शरीर बनता है। सिद्धता को प्राप्त करने में सभी साधकों के लिए साधन सूक्ष्म शरीर बनता है। सब धर्म इसी सूक्ष्म शरीर को प्रौढ़ करने के ध्येय से हैं और सभी धार्मिक कर्म इसी सूक्ष्म शरीर को मजबूत करने के लिए हैं।

उस क्षेत्र के सारे सारगर्भित अर्थों को समझने के लिए सूक्ष्म शरीर के स्वभाव व ढाँचे का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। वेदान्त में मन और बुद्धि बहुधा एक माने जाते हैं क्योंकि जहाँ तक पदार्थ का अभिप्राय है दोनों एक ही हैं। जब कोई भ्रम व गड़बड़ होती है तब वह मनोमय कोष में होती है और अपनें पिछले अनुभवों के कारण विवेक द्वारा कोई निश्चय किया जाता है तो वह विज्ञानमय कोष में होता है।

इस प्रकार अगर मन ही सूक्ष्म शरीर है तो मन के स्वभाव का पूर्ण ज्ञान ही समझ लेना सूक्ष्म शरीर के स्वभाव को पूर्णतः समझ लेना है।

मित्रो ! आप सब यह तो जानते हैं कि आप सबों के अन्दर एक मन काम कर रहा है। आप अक्सर कहते भी हैं कि "मेरा मन उद्विग्न है, मैं व्यथित हूँ, मेरे मन में उथल-पुथल है" इत्यादि। अब थोड़ी देर के लिए मैं चाहता हूँ कि आप केवल बोलने वाले के शब्द सुनने वाले

श्रोता न बनिये—परन्तु आप सब अपने आप सोचिये। वास्तव में यही परम ध्यान है। अब क्या आप सब मुझे अपने अपने विचार इस पर बता कर मेरे साथ सहयोग करेंगे कि 'मन क्या है ?'

मन क्या है ? शान्ति—शान्ति के कुछ क्षणों के पश्चात् एक कोने से उत्तर आता है 'इच्छाएं', 'विचारों का पुलिन्दा', 'प्रकृति व पुरुष में सम्बन्ध स्थापित करने वाला मध्यस्थ।' अवश्य ही आप सभी उत्तर के समीप तो पहुँच गए हैं पर पूरा उत्तर अभी तक कोई नहीं दे सका।

हमारे विचार तो हमारा मन हो ही नहीं सके, क्योंकि हमारे विचारों का स्वभाव, गुण आदि सदैव एक से न रह कर बदलते रहते हैं परन्तु हमारा मन सदैव एक ही रहता है। अगर विचार ही मन होता तो विचारों के साथ-साथ मन भी बदलता रहता।

न यह 'इच्छा' ही हो सकी है क्योंकि विचारों के बिना इच्छा का अस्तित्व हो ही नहीं सका। अन्तिम परिभाषा कठिन है क्योंकि जब तक प्रकृति व पुरुष क्या है इस का पूर्ण ज्ञान न हो तो उनके द्वारा जिस चीज़ की परिभाषा दी जा रही हो वह भी समझ में नहीं आती।

हमारे अस्त्र अधिक प्रत्यक्ष हैं। अपने भावों के स्फटिक शिला की स्पष्टता के लिये, प्रतिपादन की समग्रता के लिये तथा अपने विवरण की बारीकियों के लिये कोई भी वैज्ञानिक साहित्य संसार में उनसे तुलना के योग्य नहीं है। महान ऋषियों ने इन हिन्दू शास्त्रों को वह परिपक्वता दी है।

शास्त्रों की राय में विचार मन की एक उपज है। पर मन भी एक भ्रमात्मक शून्य है जो संलक्ष्य आभासित होता है। जब विचार-प्रवाह आता है, तो उसके होने का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। अगर नदी का उदाहरण लिया जाए तो यह अधिक स्पष्ट हो जाता है। नदी जल तो होती नहीं है न ही नदी वह जल है जो कि दो किनारों में सीमित है। नदी वह है जहाँ जल बहता है। बहना नदी का सार है। इसी प्रकार

विचार मन नहीं है । परन्तु विचारों का एक के पश्चात् दूसरा प्रवाहित होते रहना एक भ्रमात्मक पदार्थ को जन्म देता है; जिसे मन कहते हैं। यही मन हमें धमकाता है—धमकाता ही नहीं हमारी पशुता की सभी भावनाओं पर शासन भी करता है । हाँ ! कभी कभी तो हमारी उच्च भावनाओं को भी आदेश देता है ।

अपने व्यक्तित्व का विकास केवल इसी मन को वश में करके अपने काबू में लाना है । जो अपने मन का मालिक है वह वास्तव में संसार का मालिक है । संक्षेप में मनुष्य की शोकावस्था का कारण उसके मन की शोकावस्था है । अभी जो प्रशान्त महासागर में 'अणु बम' फटने की बात सुनी है। वह तो उस महान् अणु बम का एक कण है जो मनुष्य के अपने मस्तिष्क में फटा है ।

संसार के सब धर्म साधक को अपना वह मन संयत करने का एक वैज्ञानिक मार्ग दर्शाते हैं जो मन उसने निरन्तर निम्न और ओछी वस्तुओं के पीछे पीछे भगाकर तथा थका थका कर चूर कर दिया है। उसी थके क्लान्त मन को फिर से स्वस्थ बनाना है ।

मन को वश में करने का अभिप्राय है अपने विचारों को वश में करना । जब हमारे विचार हमारे अन्दर उथल-पुथल नहीं मचाते हैं तब हम आनन्द की चरमसीमा में होते हैं । मन में इन विचारों का बवंडर जितना ही उठता है हमारे मन की अशान्ति उतनी ही बढ़ती जाती है और फिर प्राणी का दुखमय या शोकातुर अवस्था में होना स्वाभाविक ही है । अपने मन को शान्त कीजिये—विचारों को रोक कर । दुर्भाग्य-वश यह हम सबके लिये सम्भव नहीं है, कुछ ऐसे कारणों से जिसे कि वेदान्त की भाषा में 'हृदय की ग्रन्थियाँ' कहते हैं ।

आपकी आश्चर्य से फटती हुई आँखें और प्रश्न में झुकी हुई भौंहें मुझे स्पष्ट दिखाई पड़ रही हैं—आप कहने जा रहे हैं 'स्वामी !' इस संसार में हमने हज़ारों के हृदय काट फेंके परन्तु हम को उनके अन्दर

यह आपकी शास्त्र वरिणत 'ग्रन्थियाँ' तो कहीं मिलो नहीं। और हमें इतना वैज्ञानिक ज्ञान तो है ही कि हम यह समझ सकें कि अगर हृदय में एक भी 'गुत्थी' हुई तो हृदय काम ही न कर सकेगा।' मेरे मित्रो ! यह तो एक भाषा की एक शैली पर तथा शब्द के एक अर्थ पर व्यर्थ का वाद-विवाद है। जब प्राचीन ऋषियों ने 'हृदय की ग्रन्थियों' शब्द की रचना की तब उनका अभिप्राय प्रकृति के विरुद्ध जाने का नहीं था। उनका केवल यह अभिप्राय था कि दुःख और जीवन के निम्न क्षेत्रों की ओर प्रेरित करनें वाला एक त्रैमार्ग है जिसको कि (क) अज्ञान, (ख) इच्छा, (ग) कर्म के नाम से सम्बोधित किया जा सका है।

अगर केवल मनुष्य को अपने सर्वव्यापी सर्वज्ञ स्वभाव का पता होता ! परन्तु वह अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्त्व की ओर से अज्ञानी है, वह अपने को अपूर्ण पाता है और इसी अपूर्णता का आभास उस के अन्दर इच्छाओं को जन्म देता है। ये इच्छाएँ उसके मस्तिष्क की ज्वाला मुखी का द्वार खोल देती है और फिर उसमें से एक झुलसाने वाले लावे के समान विचारों का प्रवाह निकलना शुरू हो जाता है। किसी इच्छा के पीछे हुए बिना किसी विचार की उत्त्पत्ति नहीं हो सकी। इस समय आप लोगों में से कोई न तो राष्ट्रीय झण्डे के विषय में सोच रहे हैं न किसी घोड़े गाड़ी के विषय में। परन्तु आप सब में से कुछ एक पंखे के विषय में अवश्य ही सोच रहे होंगे क्योंकि इस भीषरण गर्मी में आपको पंखे की इच्छा होगी ! बिना किसी इच्छा के किसी विचार का उदय नहीं हो सका। विचारों के प्रवाह का अर्थ है कि उसके पीछें एक इच्छा है। और जब एक इच्छा हमारे मन में अच्छी तरह आसन जमा लेती है तब अपनें विचारों के प्रवाह से चालू होकर वही इच्छा अपने को प्रगट रूप देने के लिए कर्म का स्थान धारण कर लेती है।

इस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में अज्ञान ही इच्छा बनकर हमारे मन में निवास करता है और ये ही इच्छाएँ इस बाह्य पदार्थों के जगत में

कर्म का रूप धारण करती हैं। संक्षेप में प्राणी के व्यवहार की गौड़ता व दिव्यता उसकी इच्छाओं के स्वभाव पर प्रकाश डालती है और वे ही वास्तव में प्राणी में अज्ञानता की कितनी गहराई है और कितना अज्ञानता का क्षेत्र है, इसका विज्ञापन है।

धर्म का अभिप्राय इस अज्ञान को प्रकाशित करना है—आध्यात्मिक अभ्यासों द्वारा। जब तक कि साधक को ज्ञान के प्रकाश की प्राप्ति न हो जाए। मनुष्य का अज्ञान उसके मानसिक क्षेत्र में इच्छा का जन्म पाता है और वही कर्मों के रूप में संसार में प्रगट होता है। इसी कारण हमारे महान् व दयालु ऋषि सबसे पहले सभी साधकों को अपने कर्मों के संयत, शुद्ध करने को कहते हैं। "अच्छे बनो; दयालु बनो; सहिष्णु बनो; कृपालु हो; स्वार्थी न बनो" ये कुछ ऐसे आदेश हैं जो संसार के सभी धर्मों में पाए जाते हैं।

जब कर्म इस प्रकार शुद्ध व कंचन किए जाते हैं तो उनके अनुसार विचार अपने आप ही शुद्ध हो जाते हैं। जैसा हम देख चुके हैं विचार इच्छाओं से जन्म पाते हैं। इस प्रकार शुद्ध विचार शुद्ध इच्छाओं की उत्पत्ति करते हैं।

हम यह भी देख चुके हैं कि इच्छाएँ केवल हमारी आध्यात्मिक मूर्खताओं का फल है—अपने वास्तविक स्वरूप की अज्ञानता। उसी को ऋषियों की भाषा में अविद्या कहते हैं। सारे आध्यात्मिक अभ्यास वे वैज्ञानिक कलाएँ हैं जिनसे हम सूक्ष्म शरीर की सब हरकतों को शुद्ध करते हैं, उनमें जीवन डालते है और उनको एक साथ लगाते हैं, जिससे कि हम अपनी 'हरा-किरी' कर सकें (वो कला जो जापानी अपनी आत्म-हत्या के लिए युद्ध काल में प्रयोग में लाते हैं)। अविद्या का अन्त होते ही अनन्त ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है और सिद्धता अपनी परम सीमा तक पहुँच जाती है।

यह तो आप सभी का अनुभव होगा कि कर्मों का संयत करना अवश्य ही एक कठिन कार्य है परन्तु एक बार कर्मों को संयत कर लेने के पश्चात् अपने विचारों को संयत करने में आप को जो कठिनाई होती है, कर्मों को संयत करने की कठिनाई उसके सामने कुछ भी नहीं है। उदाहरण के लिये 'ब्रह्मचर्य' की प्रतिज्ञा कठिन भले ही हो पर एक दृढ़ मनुष्य के लिये असंभव नहीं है। परन्तु मन का ब्रह्मचर्य रखना तो आप सभी मानेंगे कि असंभव ही है। हम उस सभ्यता के पीछे जो हमें शिक्षा, सुचारू लालन पालन, समाज के नियमों आदि के द्वारा प्राप्त हुई है भले ही अपने को बलात्कार ऐसे पशु कर्मों से रोकें; पर हम कितने हैं जो मन की व्यथा ऐसे अत्याचारों से शुद्ध कह सकेंगे।

इस प्रकार, हालांकि प्रत्येक साधक का ध्येय अविद्या का नाश करना है (अविद्या वाहक कोषों से अपना भ्रम पूर्ण-सम्बन्ध दूर करना) हमारे प्रिय प्राचीन ऋषि हमें इस की शिक्षा देने में कि अविद्या पर वश पाने का सबसे आसान तरीका वाहक संसार में अपने अपनें कर्मों को संयत करनें में है—वे ऋषि अवश्य ही साधारण जन समुदाय की दिक्कतों को समझते थे। इस कारण सब धर्मों में नैतिक आचरण की सिद्धता पर जोर दिया जाता था और वही किसी मन्दिर गुरुद्वारा व मस्जिद में जाने की आधारिक योग्यता मानी जाती थी। आज कल संसार भर से लोग अपने अपने धर्म स्थानों में उनके बिना जा सके है इसी कारण आजीवन पूजन और धर्म के अन्य कार्य करने के पश्चात् भी ईश्वर हम से आज भी उतनी ही दूर है जितना उस दिन था जिस दिन हमने मन्दिर में प्रवेश किया था।

यहाँ मेरे पास इतना समय नहीं है कि मैं इस संसार के सब धर्मों की तुलना इस विषय में करू" कि किस धर्म में इस नैतिक आचरण सिद्धता की ओर अधिक महत्व दिया गया है।

हिन्दू धर्म में इस पर कितना महत्व दिया गया है इस पर अवश्य हम लोग कुछ थोड़ा सा प्रकाश डालेंगे।

वो तीन शिलायें जिन पर कि हिन्दू धर्म का मन्दिर इस भव्यता से खड़ा है सत्य, अहिंसा, व ब्रह्मचर्य हैं। धर्म शास्त्रों की पुस्तकों पर पुस्तकें जिनसे कि भारत के पुस्तकालय भरे पड़े है इन्हीं तीनों सार गर्भित शब्दों की या तो परिभाषा है या उन पर आलोचना हैं व उनकी प्रसंशा में लिखे गये शब्द हैं। इन्हीं तोनों शुद्ध नीवों पर भारत के आचार्यों ने अपनी समस्त सभ्यता स्थापित की थी। इन उपनिषदों के ऋषियों की सन्तान ने अपने सारे नियम व्यक्तिगत घरेलू, साम्प्रदायिक, सामाजिक, देशी तथा अन्तर्देशी—इन्हीं तीन आधारिक कार्यों पर बनाये थे--ये कर्तव्य जो उसके अपने प्रति हैं।

इस आधुनिक काल की गड़बड़ व हलचल में जहाँ गति 'रौकेह गति' से नापी जाती है जहाँ २४ घंटे भी दिन की आवश्यकताओं के लिये काफी नहीं पड़ते—आप सब से यह कहना कि आप सम्पूर्ण साहित्य को पढ़ कर स्वयं एक धारणा पर आयें मूर्खता ही होगी।

परन्तु इस आधुनिक काल को बुद्धि एक बहूत बड़ी देन है। वास्तव में ये पीढ़ी अपनी पूर्व पीढ़ियों से अधिक बुद्धिमान है, और पूर्व पीढ़ियों से विवेक भी इसका कई गुना बढ़ा चढ़ा है। प्रकृति अभावों की पूर्ति किसी न किसी रूप में कर देती है। अगर आपको इन तीनों मूल सिद्धान्तों के पीछे के गूढ़ रहस्य बता दिये जायँ तो आप उनका पालन अपने दिन प्रतिदिन के जीवन में कर सकेंगे और आप को पूरा साहित्य भी न पढ़ना पड़ेगा।

"सत्यम्"—यह शब्द इतना प्रयोग में आता है कि हम सभी को उसका अभिपता है परन्तु एक साधारण प्राणी एक वातावरण में पड़कर यह नहीं जान पाता कि सत्य व्यवहार कैसे करे। अधिक विस्तृत विवरण में

न जाकर मैं उसके तत्व पर कुछ हल्का सा प्रकाश डालने का प्रयास करूँगा।

"ब्रह्मचर्य"—इसका अर्थ केवल यौन भावनाओं का ही दमन करना नहीं है। यह तो एक संयम का ऐसा नियम है जो कि सम्पूर्ण इन्द्रियों पर जो कि वाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आती हैं, होता है। इस प्रकार बहुत बोलना, बहुत दूर तक चलना, अपनी भूख से अधिक एक ग्रास भी खाना सभी संयम के जीवन पर आघात हैं।

इस प्रकार, जिस तरह 'ब्रह्मचर्य' लौकिक में लागू होता है उसी प्रकार अहिंसा मानसिक क्षेत्र में लागू होती है। अहिंसा उस जड़ भावना का नाम नहीं है जिससे कि उस दासता का जन्म होता है जो मनुष्व को प्रभाव हीन बना देती है और हमारे मन को ऐसा ढाल देती है कि हमें कोई कितना भी दबा ले, पीट ले, हम सर्व कष्ट झेलने के लिए तय्यार हैं। भीरुता अहिंसा का नाम नहीं है।

अहिंसा का वास्तविक अध्यामिक अर्थं है 'पशु भावना से किसी को न मारो।' हमारे कर्मों की प्रेरणा अहिंसा द्वारा होना चाहिये। घृणा व निर्दयता हमारे कर्मों को प्रेरित न करे। इस प्रकार डाकुओं से अपने ही घर में अपनी रक्षा करना या किसी पुजारी व शासक के अन्यायी शासन के विरुद्ध मोर्चा लेना अहिंसा को भंग करना नहीं है। एक मच्छड़ या खटमल को मारना, एक साँप या बिच्छू को कुचल डालना निर्दयता नहीं है इनको अहिंसा के नाम पर बढ़ने देना ही मूर्खता है। इन गलत अर्थों ने ही इतना पतन और विनाश किया है जो हिन्दू साम्राज्य की ख्याति मृत्यु के मुख में पड़ गयी है।

इस प्रकार हिन्दू-धर्भ के निर्धारकों ने अहिंसा को कर्मों की प्रेरणा पर लागू करके जीवन का आधार बनाया। हमारे इरादे शुभ व किसी को कष्ट न पहुँचाने वाले होनें चाहिए। अपने इन इरादों को कार्य्य रूप

में परिणित करने के लिये हमें उपवन सुन्दर व रम्य बनाने के लिये कहीं-कहीं से काँटे व झाड़ियाँ उखाड़ कर फेंकनी ही पड़ेंगी—यह कोई हिंसा नहीं है।

सत्य वह भाव है जिससे कि हमारी आन्तरिक बुद्धि शासित होनी चाहिए। बाह्य जगत से कुछ अनुभवो को प्राप्त करके, और फिर उन्हें मन में अच्छी तरह जमा कर जब बुद्धि उसे एक रूप देकर अपना लेती है और उसमें दृढ़ता डाल देती है तब उस ज्ञान के आधार पर बुद्धि में इतनी दृढ़ता आ जाना कि वह उसके आधार पर काम करे वही 'सत्यम्' है। वाह्य जगत तो एक विशाल विश्व विद्यालय के समान है जिसमें हम सभी विद्यार्थी हैं। प्रकृति हर क्षण, दिन प्रतिदिन, हमें अनेकों ऐसे अवसर प्रदान करती है कि हम अपने भिन्न-भिन्न अनुभवों से कुछ सीखें। मनुष्य जिसे बुद्धि की देन मिली है वह ही अकेला प्राणी है जो प्रकृति की अलिखित भाषा को पढ़ व समझ सका है। और एक बार इस प्रकार समझने के पश्चात मनुष्य से यह आशा की जाती है कि वह अपने कर्म इसी नव उपार्जित ज्ञान के आधार पर करे। परन्तु हममें से बहुत से ऐसा नहीं करते हैं; और फिर उसी के फलस्वरूप हम पछताते हैं। हममें से बहुत से तो यह भी भूल गए हैं कि उनके पास मन व बुद्धि है भी, और प्रयोग में न आने के कारण उनके वे अंग शिथिल हो गए हैं। कर्म जब आपसे इसके लिए आग्रह करता है कि अपने पूर्व उपार्जित ज्ञान के प्रति सच्चे रहो, तब उसका यही अभिप्राय है कि अपने सूक्ष्म शरीर मन और बुद्धि को निरन्तर काम में लाओ।

अगर आप एक बार ठीक-ठीक इन तीनों गूढ़ मूलों के सिद्धान्तों व महत्त्व को समझ गये तो यह समझिये कि आपने संस्कृत के विशाल पुस्तकालयों के तत्त्व को समझ लिया है, जो धर्मशास्त्र के विषय पर लिखी गयी हैं।

इस प्रकार जिस प्राणी ने कि पूर्ण संयम से रहना सीख लिया है और जो सदैव चौकन्ना रह कर अपने जीवन के हर एक अनुभव से ज्ञान एकत्र कर रहा है, ऐसा पुरुष जब कुछ वर्ष अहिंसा की भावना और सत्य के ज्ञान से अपनी आन्तरिक बुद्धि को शासित कर के रह लेता है तो वह पुरुष प्रकृति की प्रीति पावन सन्तान बन जाता है जिसे प्रकृति उठाकर सीधा सिद्धता की चरम सीमा पर पहुँचा कर दिव्य पुरुष बना देती है।

यात्रा का यह अन्तिम टुकड़ा जिस कला से तय किया जाता है उसे योग (अभ्यास) कहते हैं। हमारे हिन्दू धर्म में मनुष्य से देव मनुष्य बनने की अन्तिम क्रियाओं में चार भिन्न-भिन्न प्रकार की कलाएँ बतायी गयी हैं। वही उन्हें चारों ओर के दुःख से अनन्त आनन्द की ओर ले जाती हैं। ये चार मार्ग भक्ति, ज्ञान, कर्म व हठ हैं। ये आपस में एक दूसरे को काटते नहीं हैं। उसके विपरीत ये चारों एक ध्येय की ओर ही ले जाते हैं। कल हम इसी का अध्ययन करेंगे। आनन्द की इस उड़ान में हमें कोई और धर्म ऐसी सुखद और आनन्दमयी उड़ान नहीं देता है।

सब धर्मों में केवल बुद्ध धर्म को छोड़कर एक वही पिटा हुआ रास्ता है जिस पर बिना आनाकानी किए सबको एक समान ही चलना पड़ता है—वह है भक्ति मार्ग। ऐसे दृष्टान्तों से बाध्य होकर और अपने कर्म में दूसरे धर्मों के प्रति सद्भावना न पाकर बहुत से उस पिटे हुए रास्ते से अलग भटक आए हैं। ऐसे भटक कर आए हुए साधकों को हिन्दू धर्म का भव्य भवन छोड़कर और कहाँ शरण मिलेगी।

ओं ओं ओं

उपनिषद्

उपनिषदों में दीक्षागम्य आध्यात्मिक ज्ञान विवेचन व मनन के लिए लिखा गया है। इस कारण अपनी ध्यान अवस्था में जितना कि मनुष्य उनकी गहराई में नीचे उतरता है, उतने ही नए-नए और गुप्त अर्थ उसे उन में दिखने लगते हैं। इतने दार्शनिक साहित्य को एक सरसरी दृष्टि से देखने वाला प्राणी नहीं समझ सकता—ना वे उसके लिए बने ही हैं। ये तो परम सत्य पर प्रवचन है जो कि स्वयं मन और बुद्धि से उन्हीं के क्षेत्र में आधिपत्य और प्रमाणिकता की चुनौती देते हैं। इसी कारण बहुत से विद्यार्थी जो अपने को अभी उनको पढ़ने के योग्य नहीं बना सके थे, वेदों के क्षेत्र में पहुँचते ही एक साथ भाग खड़े होते हैं—केवल इसलिए कि वे उसके अर्थ को समझ नहीं सके, फिर उन महान् ऋषियों के शब्दों का आनन्द लेना तो दूर रहा।

वेद हिन्दुओं के धर्म ज्ञान की अनन्त पुस्तक है। और वे चार खंडों में भिन्न-भिन्न पुस्तक रूप से लिखी गई हैं—ऋक् वेद, यजुर्वेद, साम वेद, अथर्व वेद। इन सभी वेदों के तीन भिन्न-भिन्न स्पष्ट भाग हैं मंत्र, ब्राह्मण तथा उपनिषद। ये तीनों भाग उसके अन्तर्गत आने वाले विषय के हिसाब से किये गए हैं। उपनिषद इन चारों वेद पुस्तकों के अंत के भाग है। उनमें सत्य प्राप्ति की प्रज्वलित घोषणाएं हैं—उन ऋषियों द्वारा जिन्होंने असीम को इन सीमित शब्दों के हल्के जाल में बाँधना चाहा है। जीवधारियों के इस संसार में महान् दार्शनिक विवरण अगर कहीं कहीं हुआ है तो वह इन दिव्य पुरुषों द्वारा इन पुस्तकों में हुआ है। यही महत्त्वपूर्ण तथा सजीव सत्य की घोषणाएँ इकट्ठी करके और संलग्न करके प्रत्येक वेद के अन्त का भाग बन गई हैं और इसी कारण

उनका नाम संस्करण भी वेदान्त हुआ है—वेदों का अन्त । दोनों ही प्रकार से उपमा तथा यथार्थ में यह सत्य है । एक ओर तो यह ज्ञान का अन्त पूर्ण ज्ञान द्वारा करा कर उपमा को सत्य करता है, दूसरी ओर यथार्थ में उन अमर वेद पुस्तकों का अन्तिम भाग ही है ।

भाषा सुनाई पड़ने वाले शब्दों की एक ऐसी क्रम-बद्ध धारा है जिसे दोनों ही सुनने व बोलने वाले एक सा ही समझते हैं । यह भाषा केवल वे ही अनुभव व्यक्त कर सके हैं जिसे दोनों सुनने व कहने वाला अपने जीवन काल में अनुभव कर चुके हों । संक्षेप में भाषा अपने दिन प्रतिदिन के सीमित अनुभव ही व्यक्त कर सकी है क्योंकि जीवन में मनुष्य की वही एक निधि है । बहुत हुआ तो, भाषा से इतनी भी आशा की जा सकी है कि कुछ हद तक—वह भी अगर वह कर सकी तो—प्राणी के बौद्धिक जीवन के विचार पूर्ण गहराई से व्यक्त कर दे । परन्तु उसके परे अनुभवी के अनुभव कितने भी अधिक निजी व सामीप्य के क्यों न हों वह उन विचारों ही से किसी भी भाषा में खोल कर रख ही नहीं सका । असल में तो जीवन के किसी भी पहलू में हम जहाँ गहराई में उतरे कि वह भाषा के लिए अव्यक्त हो जाना है । निश्चय ही असीम सीमितों की भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सका ।

फिर भी इन ऋषियों ने बड़ा सफल प्रयास किया है—उस के वर्णन में नहीं परन्तु अपनी भाषा से उस विद्यार्थी को जो कि उस जीवन को बिताने के लिए इच्छुक है उस असीम की एक अनुभूति दर्शा देने में । यह असम्भव केवल इसलिये संभव हो सका है कि शब्दों में शाब्दिक अर्थ से परे एक संकेत और सारगर्भिता भी होती है । इसी कारण हम यह देखते हैं कि जब कभी भी उपनिषदों को शब्द-कोष के अर्थ से पढ़ो तो उलझन कुछ बढ़ जाती है और शब्दों के अर्थ या तो समझ में नहीं आते व गलत समझ में आने लगते हैं ।

जैसा कि स्वयं उपनिषद शब्द के अर्थ से ही प्रतीत होता है । इन

ऋषियों के चक्करदार शब्दों के शुद्ध व सारगर्भित अर्थों में प्रवेश पाने के लिए किसी गुरु के चरणों में बैठ कर समझने की आवश्यकता पड़ती है। मंचों पर विवेचन करते हुए हम इनके विचार, भाषा, शैली और विचार पर विशेष ध्यान रखेंगे।

अनन्त काल से प्रत्येक विचारवान पीढ़ी के सम्मुख एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि 'ठीक जीवन व्यतीत करने का मार्ग क्या है ?' और समय समय पर जलवायु, वातावरण आदि के आधार पर वे उसका सुगम उत्तर भी खोजते रहे हैं। यह प्रश्न कोई आज हमारे सामने नया नहीं है। जो हम आज रंगमञ्च व समाचारपत्रों में बार बार विवाद पर विवाद कर रहे हैं कि हम आज आध्यात्मिक बनें या संसारिक ?

शब्द नये हो सके हैं। वही समस्या हमें नये काल में ढलने के कारण नये अस्त्र सी लगे। परन्तु उसके अन्दर का आध्यात्मिक विचार अनन्त है और सदैव एक सा ही है। इस समस्या का अन्त तभी होगा जब हम अपने लिए उसका एक उत्तर ढूंढ लेंगे "जीवन का ध्येय क्या है और जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिये ?"

सारा जीवन निषेध, त्याग और आत्म खोज में ही बिता देना चाहिए या त्याग के साथ इस बात का प्रयास करते रहना चाहिए कि अपने आस पास वालों की व अपनी निरन्तर सेवा करते रहें, जिस से हमारे शारीरिक व आर्थिक दशा को लाभ हो। त्याग के मार्ग पर चल कर जीवन को बिता देना चाहिए या कर्त्तव्य के मार्ग पर चल कर।

यह कोई एक नया प्रश्न नहीं है। भारत के दार्शनिक साहित्य में हमारे बीच ऐसे महान मननशील पुरुष हो चुके हैं जिन्होंने ज्ञान और कर्म के बीच दोनों के योग से समुच्यवाद को जन्म दिया। समुच्य-वाद के इन पक्षपातियों के तीन स्पष्ट वर्ग हैं कुछ दोनों के इस चित्रण में इस मत के हैं कि कर्म को अधिक महत्व देना चाहिए उसे कर्म प्रधान

कहते हैं। कुछ ज्ञान को अधिक महत्व देते हैं और उसे ज्ञान प्रधान कहते हैं। कुछ दोनों को इस मिश्रण में बिल्कुल एक सा स्थान देते हैं उसी को **समप्रधान** कहते हैं।

एक सरसरी तौर पर हम यह कह सके हैं कि मनुष्य के इतिहास में प्रत्येक परिवर्तित शताब्दी में ज्ञान और कर्म में कभी झोंका इस तरफ रहा तो कभी उस तरफ। एक काल आन्तरिक शान्त विकास के पक्ष में था, जिससे अन्त में मानसिक व बौद्धिक सभ्यता की प्राप्ति होती है और दूसरा काम इस पक्ष का होता है कि समाज, देश और स्वयं अपनी गृहस्थी के आर्थिक सुधार के लिए केवल पसीना ही नहीं परन्तु अकथ परिश्रम करके रुधिर तक बहाना चाहिए। और इस प्रकार मनुष्य और संस्थायें दोनों को ही कुबेर के कोष तक पहुँचा दें।

हम लोग लगता है कि उस शताब्दी में हैं जिसमें आर्थिकवाद का झोंका अपने अन्त को पहुँच चुका है। संसार अपने इस आर्थिकवाद के प्रयासों से विल्कुल थक कर परास्त हो गया है और अब आँखों में आँसू भरकर' चेहरे पर निराशा लिये, स्वयं पश्चात्ताप की मूर्ति बना हुआ अपनी मूर्खता पर शोक करता हुआ शान्ति व शान्त विकास के खोये हुए साम्राज्य को निरन्तर खोजने में लगा हुआ है। दुख से पीड़ित, अपनी भावनाओं का शिकार पूरा पश्चिमी देश आज शान्ति और धीरज के लिये पूर्व की ओर देख रहे हैं।

प्राचीन काल के इन महान ऋषियों ने जीवन के इन सामयिक झोंकों को देखा जो कि समाज व सम्प्रदायों को झकझोरते रहे। उन्होंने यह सब देख कर, समझ-बूझ कर एक सम मार्ग को खोज निकाला। उनका यही अमर सुझाव जो इस महान समस्या का हल है इस उपनिषद की विचारधारा को इस पालघाट यज्ञ के लिए हमने उसी उपनिषद को छाँटा है और वही यह ईशावास्यो उपनिषद है।

अन्त में जब हम इस उपनिषद के मन्त्रों का विवेचन करेंगे तब

हम स्वयम् ही इन मन्त्रों में छिपी ज्ञान की निधि और उन में छिपा सौन्दर्य्य खोज निकालेंगे और साथ-साथ इस बात का भी अवश्य ही ध्यान रखेंगे कि हम उस समस्या का हल जो इन महान ऋषियों ने सुझाया है, भी खोज निकालें। उन की पुकार ज्ञान मार्ग की ओर अवश्य है पर वह कर्म मार्ग की उपेक्षा नहीं करते। इसकी ओर तो त्याग के महान जीवन पर उसके महत्व पर काफी जोर भी डालते हैं। उनके मत के विचार से कर्म मार्ग एक आर्थिक लग्न और बुद्धिमत्ता से करना चाहिए जिससे कि हमारा शारीरिक, मानसिक व बुद्धि का विकास हो। इसके पश्चात् ही हम ज्ञान मार्ग की ओर जाने की आशा व प्रयास कर सके हैं और तब सत्य और पूर्णतः की चरम सीमा को प्राप्त करने में सफल हो सके हैं।

इस कारण यह नहीं कहा जा सका कि ऋषी ज्ञान मार्ग की अपेक्षा कर्म मार्ग को हीन समझते रहे, नहीं तो उन दोनों का योग बताकर साथ-साथ चलने के लिये कर रहे हैं। वास्तव में वे दोनों के ही अभ्यास करने के लिये कहते हैं परन्तु एक क्रम में; पहले इच्छा से प्रेरित कर्म इच्छाहीन कर्मों को स्थान देते हैं उससे प्राणी की मानसिक व बुद्धि की चेतना का विकास होता है और वे उसको उच्चतर साधनों के योग्य बनाता है—जैसे ध्यान के साधन के योग्य। जब मनुष्य ध्यान की अवस्था तक पहुँच जाता है तब त्याग स्वाभाविक तौर पर ही उस में आ जाता है—कुछ इस रूप में कि प्राणी उसे छोड़ ही नहीं सकता। ये ही कला हमें धीरे-धीरे क्रम से मिलती चली जाएगी जैसे-जैसे कि हम इन मन्त्रों को पढ़ते जाएँगे।

शुक्ल यजुर्वेद संहिता का यह ईशावस्य उपनिषद अन्तिम अध्याय है और क्योंकि यह एक संहिता का स्पष्ट रूप से अंगभूत अंश है इस को संहितो उपनिषद भी कहते हैं। इन उपनिषदों की घोषणाएँ जब छन्दों बद्ध होती हैं तब उन्हें मन्त्र कहते हैं। तुक बन्ध उपनिषदों को मन्त्रो-

पनिषद कहते हैं। ईशावास्योपनिषद मन्त्रोपनिषदों में अपनी सुन्दरता के लिये अद्वितीय है।

इन उपनिषदों के अन्दर हमें ऐसे सबूत कम मिलते हैं कि हम यह बता सके कि यह उपनिषद किस गुरु से सम्बन्धित है। किसी भी महान ऋषि ने इन उपनिषदों की घोषणाओं को अपना कह कर हस्ताक्षर करने का साहस नहीं किया है। इसी कारण आमतौर पर ये उपनिषदें किसी एक विशेष गुरु के नाम से सम्बोधित नहीं हैं। बहुधा वे एक प्रतीक माने जाते हैं जिससे कि अपनी बोल-चाल में उस शब्द से एक विशेष पुस्तक का अर्थ लगा सकें। उपनिषद के प्रथम मन्त्र के प्रथम शब्द को ही बहुधा इसका प्रतीक मान लिया जाता है। यह उपनिषद भी अपनें प्रथम शब्द के आधार पर ही ईशावास्य उपनिषद कहलाता है।

प्राचीन ऋषियों की परम्परा में किसी भी उपनिषद का अध्यन बिना दोनों गुरु व शिष्य के साथ-साथ 'शान्ति पाठ' के उच्चारण के बिना शुरू नहीं होता। यह गुरु व शिष्य की सद् प्रार्थना वास्तव में एक शान्ति की प्रार्थना होती है। आज कल के आर्थिक वाद के प्रेमियों के काल में अब एक यह शंका उठ खड़ी होती है और आश्चर्य होता है कि क्या प्रार्थना का भी जीवन में कोई स्थान है। अगर भिक्षा माँगने का एक प्राचीन साधन हो तो अवश्य ही वह हम को नीच बनाकर हमारी सारी पीढ़ी को ही नीचता की ओर खींचेगी, दुर्भाग्य से धर्म सम्बन्धी नक्शा यदि देखा जाए तो आज हमें केवल वही नीचता दिखाई पड़ती है।

आज कल के धार्मिक कहलाने वाले लोग अपने देवता कहलाने वाले देवताओं को प्रार्थना के अनुचित रूपों से तथा कलिपत श्रोत संस्कार द्वारा एक न एक व्यवसायी काम में जोते हुए है; जैसे डाक्टरी का पेशा इत्यादि यहाँ तक कि अपने आँकुरिक पेशों में भी वे उन देवताओं की सहायता चाहते हैं। इसमें प्रार्थना का दोष तो हुआ नहीं। एक खंजर

का उपयोग दोनों ही तरह से हो सका है—उससे घर की रक्षा भी कर सकते हैं और अपनी माँ की हत्या भी। कत्ल करने वाले खंजर को न तो सूली ही पर चढ़ाया जाता है और न उस पर किसी क़त्ल का कलंक ही लगाया जाता है। इसी प्रकार प्रार्थना की कला भी बुद्धिमान मनुष्य के पास एक शक्तिमान् आशीर्वाद है, परन्तु ये तो हमने स्वयं ही दुरुपयोग से उस पर अत्याचार कर के उस को इस हीन दशा में डाल दिया है; हमारे दुरुपयोग ने ही प्रार्थना में से उसकी शक्ति निकाल दी है। अगर समझदारी के पहलू से देखा जाए तो प्रार्थना वह कला है जिससे हम अपने आन्तरिक साधनों को विकास की ओर साधते हैं उससे हमारे दोनों ही आन्तरिक साधन—मन और बुद्धि—विकसित होते हैं। अपनें इस उत्थान में हम बाह्य पदार्थों में किसी से भी सहायता ले सके हैं; वे किसी भी रूप में हो, शिवलिंग के सन्मुख कपूर जलाकर या ईसामसीह के क्रॉस के सन्मुख एक मोमवत्ती जला कर।

वे कर्म कहीं भी क्यों न हो, दूर सघन हिमालय पर्वत के बनों में या घर पर पलंग पर लेटे हुए—इनका आत्मगत व्यापार एक ही समान है। प्रार्थना के समय वास्तव में गहराई में पहुँचने के लिए हम एक गोता लगाते हैं और इस प्रकार नीचे गहराई में पहुँच कर हम शील, नये जीवन और ताकत रूपी मुक्ताओं को लेकर फिर अपने व्यक्तित्व की सतह पर उतर आते हैं।

ऋषियों के ज्ञान मन्दिर में जो गुरू व शिष्य की सह प्रार्थना होती थी वह वास्तव में अपने आवरणों को हटाकर एक शक्तिशाली व शुद्ध मन व बुद्धि से जीवन की समस्याओं की गुत्थियाँ सुलझाने की एक तैयारी थी; असीम अनन्त सिद्धता के अनुभव से वे एक आन्तरिक ताजगी का अनुभव करते थे। यह शान्ति पाठ विशेष कर बहुत प्रसिद्ध है और बहुधा सब प्रभु कर्मों के अन्त में इसका पाठ होता है अगर पुजारी को वह क्या करा रहा है इसका ज्ञान हो तो।

ईशावास्योपनिषद्

या

वाजसनेय संहिता उपनिषद्

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णत्पूर्ण मुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

वह भी पूर्ण है; यह भी पूर्ण है; पूर्ण से ही पूर्ण का जन्म होता है, पूर्ण से पूर्ण को निकाल लेने के पश्चात् जो बचता है वह भी पूर्ण है।

यह शान्ति पाठ ऐसा लगता है जैसे विरोधी भावों को व्यक्त करने वाले सुन्दर शब्दों में लिखा गया हो। एक सरसरी दृष्टि में केवल शाब्दिक अर्थ निकालने वाले आधुनिक विद्यार्थी को जो केवल शाब्दिक अर्थ के छपे अनुवादों को (चाहे वे अनुवाद किसी भी भाषा में हों) पढ़कर गहराई तक उतरना चाहता है अवश्य ही यह केवल उलझा कर परेशान ही करेगा। यह एक दार्शनिक सत्य की घोषणा है इस कारण जब तक असीम का सीमित से क्या सम्बन्ध है। इसके वेदान्तिक निष्कर्ष का ज्ञान न हो तो अवश्य ही पाठक केवल उलझा ही रहेगा।

वेदान्त के हिसाब से केवल अहं ही सत्य है—अद्वैत, सर्वव्यापी, और अनन्त। इसी असीम सत्य को उपनिषद अपने विवरण से समझाना चाहते हैं। हमारे महान् ऋषियों ने इस परम सत्य का जो कि हममें हमारे जीवन का अंश है, अनुभव किया था। उन्होंने इस बात की घोषणा की है कि, यह बहु आकारों का जो सीमित जगत प्रत्यक्ष में

दिखता है। इसका अपना कोई भी अस्तित्व नहीं है यह उस परम सत्य के ऊपर आश्रित है। संक्षेप में असीम के शिखिर से अगर देखा जाए तो यह बहु आकारों का जगत मिथ्या है; जगत की इस बहुता का यह प्रत्यक्ष दर्शन उतना ही भ्रम पूर्ण है जितना खम्भे के अन्दर का भूत।

अन्धेरे में थका हुआ यात्री रास्ते में गड़े खम्भे को भूत समझ बैठता है। उस भूत में अलग-अलग अंगों का आभास भी होने लगता है इस कारण उसमें बहुता भी आ जाती है; उसका सिर उसके धड़ पर आश्रित है, अवश्य ही सिर और धड़ ये दो पृथक चीजें हुई। जब यात्री को इसका ज्ञान हो जाता है कि यह खम्भा है भूत नहीं तो वह भूत दर्शन अपने सारे अंगों प्रत्यंगों के साथ अन्तर्ध्यान हो जाता है और उस यात्री की जान में जान डालने के लिये वहाँ केवल खम्भा ही रह जाता है।

वह खम्भा सदैव पूर्ण था। जब उस में से भूत निकल कर उस यात्री को जो भ्रम में पड़ गया था अपने विशाल दाँत दिखाने लगा तो, उस भ्रमी यात्री के मन में वह भूत भी पूर्ण था, इसका अर्थ हुआ जब तक वहाँ भूत था तब तक वहाँ खम्भा होने का कोई प्रमाण नहीं था। अपने विवेक के प्रकाश से जब यात्री ने ज़रा समीप से देखा तो सारा भूत उसके मन से निकल गया और साक्षात् खम्भे के दर्शन हुए। वही यात्री जो अभी पूर्ण भूत उसमें देख रहा था उसी को अब पूर्ण खम्भा दिखाई पड़ने लगा। ठीक जहाँ खम्भा था वहीं भूत था; जहाँ खम्भा नहीं होगा वहाँ भूत भी नहीं होगा। संक्षेप में खम्भे से भूत ने जन्म लिया, और वह खम्भे में ही निवास करता रहा अपना अस्तित्व उसे खम्भे से ही मिला और फिर वह खम्भे में ही समा गया।

इसी प्रकार यह मन्त्र घोषित करता है कि Supreme ही सत्य है जिस में कि मन और बुद्धि जैसे साधन रखने वाला दर्शक अपने

अज्ञान के कारण उसे न देख कर उसके स्थान पर बहुनाम रखने वाले विभिन्न पदार्थों को देखता है जिस प्रकार यात्री को खम्भे में भूत दिखायी पड़ा था। अगर सत्य का आश्रय न हो तो वहुता के इस संसार का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। दर्शक ने जो अपने अनुभव से बहुता का यह संसार देखा है यह उसी सत्य में व्याप्त है। जब यही दर्शक अपने मन व बुद्धि के साधनों से परे जाकर सत्य को फिर से खोज लेता है, तब यह सारे बहुता के आकार जो उसके मन व बुद्धि ने इस सत्य के आधार पर खोज कर भ्रम से आरोपित किये थे वे सभी खसक कर अलग हट जाते हैं और दर्शक पूर्ण गौरव में सत्य के प्रत्यक्ष शुभ दर्शन करता है।

यह महान् सत्य, असीम व अखंड एक सर्वनाम द्वारा सम्बोधित होता है वह सर्वनाम 'वह' है। इस सर्वनाम के प्रयोग के पीछे एक विशेष अर्थ छिपा हुआ है और उसके अर्थ में एक विशेष सारगर्भिता है।

ऐसा साधक जो चैतन्य होकर जगत में रहता है और अपने प्रौढ़ मस्तिष्क से यह अनुभव करता है कि संसार क्षणभंगुर जीवों से भरा पड़ा है और अनन्त दुख से ओत प्रोत है, अपने गुरु से पूछता है कि जीवन का ध्येय मृत्यु और दुख ही है ! वह अपने गुरु से पूछता है कि क्या जीवन का इससे उच्चत्तर कोई लक्ष्य नहीं है कि दुख मनुष्य को खदेड़ कर अन्त में मृत्यु के गर्त में डाल दे ? जहाँ तक कि इस साधक की बुद्धि का सम्बन्ध है वह स्वयं कभी इतनी परिपक्व नहीं होती कि तत्वों के चिथड़ों को चीर कर सत्य के दर्शन कर पाती।

अब गुरु उत्तर देते हैं। प्रकृति के कार्य्यों के रहस्य पर और मनुष्य के उच्चत्तर ध्येय की ओर उनके उत्तर अवश्य ही सांकेतिक ही होंगे। यहाँ इस शिष्य को उस लक्ष्य की ओर संकेत करते समय गुरु इस सर्वनाम 'वह' का प्रयोग करता है। हे शिष्य ! जीवन का वह

ध्येय जिसके विषय में तुम मुझ से पूछ रहे हो, पूर्ण है। 'वह' असीम, अनन्त को सीमितों की भाषा में समझ सकने के सभी उपनिषद एक प्रयास मात्र हैं।

परम सत्य एकजातीय तथा अखंड है। और क्योंकि यह बहु-संख्यक संसार उस सत्य पर आधारित और आरोपित होने के अन्यथा कुछ नहीं है इस कारण वह भी पूर्ण है। अवश्य ही पूर्ण में से ही पूर्ण का जन्म हुआ है।

जब किसी एक वस्तु में से दूसरी वस्तु का जन्म होता है तो अवश्य ही जिस पदार्थ में से जन्म हुआ है उस में कुछ परिवर्तन हो जाना चाहिये। इस संसार में यही होता है। मिट्टी का जब कुम्हार बड़ा घड़ा बनाता है तब उसका नाम व आकार सब बदल जाता है, थोक सोना जब गले की जंजीर का रूप धारण करता है तब उस में अन्तर आना आवश्यक है; जब वृक्ष अपने पूरे विकास पर आ जाता है तब बीज का अस्तित्व नहीं रह जाता।

इसी प्रकार जब एक असीम से इस बहुरूपी सीमित संसार का जन्म होता है तब हो सकता है कि अपने इस बहुरूपों को जन्म देने में मूल का नाश हो गया हो। इस महान शंका का उपनिषदों के विद्वान निषेध करते हैं। जब वे यह कहते हैं कि जब इस पूर्ण से वह पूर्ण निकाल लिया जाता है तब जो बचता है वह भी पूर्ण है। अवश्य ही वह जीवन के साधारण अनुभव से भिन्न है। जब कभी भी किसी का जन्म किसी में से होता है तो कार्य्य के लिये कारण में परिवर्तन आ जाता है।

जब शास्त्र जीवन अनुभव के विपरीत किसी वस्तु की घोषणा करते हैं तब किसी वेदान्तिक को शास्त्र की ऐसी उक्ति का शाब्दिक अर्थ न निकालना चाहिये, परन्तु उसका ठीक अर्थ समझने का प्रयास

करते रहना चाहिये। इस प्रकार यहाँ जब ऋषी यह कहते हैं कि सीमित के व्यक्त होने के पश्चात् भी असीम अपरिवर्तित व अछूता ही रह जाता है तब अवश्य ही इस उत्पत्ति में कुछ विशेष बात है। सब उपनिषदों में इस बात के पर्याप्त उदाहरण हैं कि यह प्रकृति वास्तव में उत्पत्ति नहीं है और इस संसार का सत्य से सम्बन्ध नहीं है जो **कारण और कार्य्य** (Cause and effect) का होता है।

वेदान्त के गुरु— प्राचीन काल के ऋषी व आज के आचार्य—दोनों ही एक स्वर से यह कहते हैं कि ये बहु पदार्थो का जगत वास्तव में केवल सत्य के ऊपर आरोपित है। भूत बना देने से खम्भे में तो कोई परिवर्तन नहीं आया इसी प्रकार सीमित को बना देने से असीम में भी कोई अन्तर नहीं आया। इस प्रकार असीम का ज्ञान होने के पश्चात् जब सीमित स्वयं ही हमारे सामने से हट जाता है तब जब असीम हमें दिखायी पड़ता है वह पूर्ण ही होता है।

इस प्रकार प्रतिदिन के पाठ के आरम्भ में दोनों गुरु व शिष्य अपने वास्तविक स्वरूप का स्मरण करते हैं और अपने आप को सत्य प्राप्ति के योग्य बनाते हैं। अपने आप को दिव्यता के योग्य बनानें का कोई प्रयास भी दिव्यता की महानता व उसके गुणों का स्मरण करके व अपनी पुन: वृद्धि करना ही 'प्रार्थना' का वास्तविक तात्पर्य है।

इस प्रकार प्रार्थना का सह पाठ करके वे दोनों अनन्त सत्य का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं और उसके सम्मुख नम्र होकर झुक जाते हैं कि वह उन्हें बुद्धि की स्थिरता देने की तथा आपत्तियों से उनकी रक्षा करने की कृपा करें।

इन शान्ति मन्त्रों के अन्त में सदैव तीन बार शान्ति का आवाहन किया जाता है। शान्ति पाठ के अन्त में इस प्रकार तीन बार शान्ति कह कर उसका आवाहन करने का अर्थ आचार्यों ने इस प्रकार दिया है कि साधक तीन बार शान्ति कहकर तीनों सम्भव वाधाओं से शान्ति की

प्रार्थना करता है, जो कि उसके इन ऋषियों के अध्ययन में बाधक हो सकती है जिसकी प्राप्ति वह अपने गुरु के चरणों में बैठकर कर रहा है।

बाधाएं तीन जगहों से आ सकती हैं एक अज्ञात स्रोत से "दूसरे ज्ञात स्रोत" से और तीसरे स्वयं "हमारे अन्दर" से। यहाँ इन्हीं तीनों स्रोतों को बाध्य किया जाता है कि वे केवल शान्ति वृष्टि ही करें जब तक कि यह गुरु शिष्य का अध्ययन निर्विघ्न समाप्त न हो जाए।

इस शान्ति पाठ के पश्चात् गुरु अपने सत्य अनुभव के कुछ निजी अनुभवों की घोषणा करता है। उन्हीं का पुंजितरूप उपनिषद बन जाते है। ईशावास्योपनिषद में विचार धारा पाँच स्पष्ट तीव्र प्रवाहिनी धाराओं में बहती है। पूरा दार्शनिक साहित्य-ईशावास्यो-पनिषद में इतने संक्षेप में व्यय किया गया है, दार्शनिक तत्व के अन्यथा उसके विचारों में इतनी गरिमा है, और धारणा में इतनी दिव्यता है, और वह इतने वैज्ञानिक रूप से लिखा गया है कि एक अधीर पाठक को वह कभी पूर्णरूप से समझ में नहीं आ सका। उसे तो यही ज्ञात होगा कि इस में या तो विचार अधलिखे ही रह गये हैं या इधर उधर के विचारों ने जगह-जगह व्यक्त होकर एक अजीब उलझन सी पैदा कर दी है।

ये धारणाएं अब बहुत प्रचलित हो गयी हैं विशेष कर विदेशी आलोचकों में। कारण यह कि प्रत्येक नवागन्तुक आलोचक जब श्रुतियों के क्षेत्र में आता है तब वह केवल और उलझ जाता है, क्योंकि उपनिषद के बहुत से व्यक्तित्व देखने में तो परिचित से लगते हैं परन्तु वास्तव में उनके कुछ विशेष अर्थ होते हैं और मन्त्रों के सम्पर्क में आ कर उनका भाव बिल्कुल बदल जाता है।

पहली धारा में इन महान ऋषियों ने सारे वे विचार संक्षेप में एक अध्याय में लिख दिये हैं जिनसे 'सत्य' की पूरी कला दिग्दर्शित होती है और 'त्याग के मार्ग' द्वारा उसकी प्राप्ति किस प्रकार हो सकती

है। इस प्रकार प्राप्त सत्य को किस प्रकार स्थिर रखकर सदैव किस प्रकार उसका आनन्द लिया जा सकता है कि जीवन में आर्थिक वैभव की ओर से पूर्णतः निर्मोही हो कर क्षणभंगुर सुखों व सारहीन यश की ओर से विमुख होकर प्राणी उसका पूर्ण आनन्द ले सके। यह सभी इस प्रथम धारा के प्रथम अध्याय में आ जाते हैं।

दूसरी धारा में गुरु 'कर्म मार्ग' का वर्णन करता है। यह 'कर्म-मार्ग' ऋषियों के मत के अनुसार उन सबों को बड़ी लग्न के साथ पालन करना चाहिए जो उपरोक्त 'त्याग मार्ग' का पालन नहीं कर सके हैं। तीसरे मन्त्र में यहाँ तक कह दिया गया है कि जो इन दोनों में से किसी मार्ग का भी पालन नहीं करता वह भटक जाता है और भटक कर दुख और अन्धकार के गर्त में गिरता है।

ऋषि अपनी कथितमय कूँची की तीसरी रेखा में विद्यार्थियों को यह बतलाते हैं कि वास्तव में जीवन का ध्येय क्या है। यह बताते समय उनके शब्दों में विशेष अर्थों की विचित्र चमक आ जाती है। प्रथम मन्त्र में भी यही बात बतायी गयी थी। एक बार इसकी प्राप्ति के पश्चात् प्राणी अपने आन्तरिक जगत में किस प्रकार इसका निजी अनुभव कर सका है यह भी इसमें वर्णित है।

विषयी के असीम गुणों के वर्णन में लिखे इन अमर श्लोकों के पश्चात् ही ऋषि अन्य छः मन्त्रों में (९-१४) चौथी धारा पूर्णतः समाप्त कर देते हैं। वहाँ वह विद्यार्थियों को ज्ञान तथा कर्म (ध्यान तथा पूजा) के महत्व की ओर संकेत करते हैं। और कहते हैं कि ज्ञान और कर्म से अगर पूर्ण लाभ उठाना है तो इन दोनों को साथ-साथ ही कार्य्यान्वित करना चाहिये। इन में से किसी का अभ्यास एक के बिना न होना चाहिये; परन्तु इनका बहुत ही सद व व्यवस्थित रूप में नियम के साथ एक के पश्चात् दूसरे के क्रम में दोनों का अनुकरण करना

चाहिए । केवल तभी इन में से एक की शक्ति दूसरे में आती है। ये अपने समस्वर समन्वय के द्वारा एक दूसरे में शक्ति डालते हैं। इस प्रकार एक दूसरे में शक्ति डाल कर यह दोनों अन्त में साधक को परम चैतन्य आत्म ज्ञान की अवस्था में पहुँचा देते हैं ।

अन्त के चार मन्त्र मिलकर श्रुति के पाँचवी तथा अन्तिम विचार लहरी बनते हैं । वास्तव में वह नश्वर प्राणियों के प्रति एक पुकार है जो उनसे कहती है कि अपने अमरत्व को समझो और उसके आनन्द व सुख की लहर में अपने को बहा दो । अब हम एक एक मन्त्र लेकर उस पर विवेचन करेंगे ।

ओऽम् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ॐ ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य-स्विद्धनम् ।।

शाब्दिक अर्थ–इस संसार में जो कुछ भी चल है, अचलों को भी लेकर उन सभी में ईश्वर व्याप्त है, वह रमण करता है तथा सभी पर उसका आवरण है । उसका त्याग करके तुम सुख भोगोगे । दूसरे के धन पर मत ललचाओ ।

परम सत्य की इस साहसपूर्ण घोषणा के साथ लोकातीत सत्य में विचरण करने वाले अपरोक्षानुभूति के द्रष्टा ऋषि उपनिषद् का आरम्भ करते हैं । वास्यम्' शब्द संस्कृत की एक बहुत ही सारगर्भित ध्वनि है तथा इसके असंख्यों अर्थ निकलते हैं और उन अर्थों में अनन्त सारगर्भिता है तथा इसके प्रयोग का अर्थ इन सभी रूपों में निकल सका है; पहनना वस्त्रों की तरह पहनना, बसना, आवर्णित होना तथा व्याप्त होना । यहाँ इसके यह सभी अर्थ लगाये जा सके हैं । महान ऋषियों का यह कथन है कि 'यह सब' जो हम अपनी इन्द्रियों द्वारा देखते व अनुभव करते हैं या जिसको कि हम अपने मन व बुद्धि द्वारा समझते हैं सभी

में वह आत्मा व्याप्त है जोकि समस्त सांसारिक पदार्थों का स्वामी है।

चैतन्यता, जब जड़ता में उलझ जाती है तब जीवधारियों का जन्म होता है। बाह्य पदार्थों में अपने को पदार्थ कहने वाले हर एक पदार्थ में चेतना निवास करती है। अपने सर्वव्यापी गुण के द्वारा वह हर एक में व्याप्त है। जड़ता पदार्थ तो केवल एक साधन है, जिसके द्वारा सत्य अपना सबसे शक्तिशाली स्वरूप दिग्दर्शित करता है—जीवन, जिसका कि हम सभी को ज्ञान है। परन्तु उसकी तह में हर जगह व्याप्त किन्तु, वस्तुतः इन सब के नीचे सर्वत्र अव्याप्त करता हुआ जीवन का रस, आत्मा का स्वरूप प्रवाहमान है, और वही आधिभौतिक समुदाय का अधीश्वर है।

यह तो हम सब को भली प्रकार ज्ञात है कि मन व बुद्धि आदि साधन अपने आप कोई कार्य न तो करेंगे ही और न कर ही सके हैं। क्योंकि वे केवल जड़ पदार्थ हैं, उनमें चेतना डालने के लिए जीवनशक्ति की आवश्यकता है। इसी कारण चेतना को जड़ता का स्वामी माना गया है क्योंकि उसी की उपस्थिति से जड़ता को जीवन मिलता है।

उपनिषदों में सत्य के पास पहुँचने के दो मार्ग हैं। एक है बाह्य पदार्थों के द्वारा और दूसरा है अपने इस शरीर में निजी खोज द्वारा। अपनें इस शरीर को जोकि इधर उधर से कई चीज़ों के एकत्रित होने से जुड़ जुड़कर बन गया है। साधक कुछ तोभ्रम पूर्वक और कुछ आदत के वश उसको ही 'मैं' कहकर सम्बोधित करने लगा है। यह उपनिषद अपने पहले ही मन्त्र में इस बात की घोषणा करता है कि साधक के अपने सारे व्यक्तित्व ईश द्वारा अधिष्ठित हैं। विद्यार्थी को यहाँ इसका भ्रम हो सका है कि आत्मा की दिव्यता की कृपा केवल उस के ही ऊपर है ! हो भी सका है, परन्तु यदि वह उदार चित्त है तो समस्त मनुष्य मात्र को अपने में अपना सका है और फिर यह धारणा बना

सका है कि ईश्वर केवल मनुष्यों के स्वरूप पर ही अपनी कृपा किये हुए हैं ।

साधक के हृदय से इस भ्रम को दूर करने के लिये ही मन्त्र की पहली पंक्ति आगे बढ़ कर क्रिया विशेषण का रूप धारण कर लेती है, और 'यह' सर्वनाम पर प्रकाश डालती है। वह कहती है कि "यह" शब्द में वह सभी सम्मिलित हैं जो कि चर हैं और वे सभी भी जो कि अचर हैं।" जिस प्रकार की धारायें, बुलबुले, व झाग समुद्र में उठते हैं और उनका अस्तित्व समुद्र में ही होता है उसी प्रकार सर्व प्रकार के जगत के बाह्य पदार्थ, विचार व सर्व प्रकार की भावनाओं का भी अस्तित्व केवल परम वास्तविकता सत्य में ही होता है। समुद्र के सिवाय लहर कहीं और उठ ही नहीं सकीं; दूसरे शब्दों में लहर ही समुद्र है; लहर उसकी शक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण है। इसी प्रकार बाह्य जगत के ये सभी भिन्न-भिन्न नाम व रूप अनन्त सत्य की महत्ता व शक्ति के उदाहरण हैं—अपने में वे सिवाय चैतन्यता के और कुछ नहीं है।

उदाहरण के लिये लीजिये कि सामने एक पेड़ खड़ा है। अगर हम अपने इस वृक्ष के अनुभव का विवेचन करें तो ज्ञात होगा कि हमारा पेड़ का यह ज्ञान अपनी भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के ज्ञान पर आधारित है, उसका आकार, ध्वनि, स्वाद, महक तथा स्पर्श। इन सब चीज़ों का ज्ञान हम को हमारी इंद्रियों ने कराया। इन्द्रियों की अनुपस्थिति में हमें उसका ज्ञान नहीं होगा। परन्तु अगर वृक्ष न रहें तो ऐसा नहीं होता कि उसकी स्मृति भी हमारे मन में न रह जाय हालाँकि हमारी इंद्रिया अब कोई भी अनुभव नहीं कर रही है। इसका कारण यह है कि इंद्रियों के अनुभव ज्ञान के साथ-साथ हम एक अनुभव और साथ साथ करते जा रहे थे पर अपने इस नये अनुभव की ओर से हम अज्ञानी थे।

उस वृक्ष के एक तो आकार है, एक स्वाद है, एक ध्वनि है, एक गन्ध है और एक स्पर्श है। इन सब का अनुभव तो हमारी इंद्रियों ने किया। इन सब गुणों को छोड़कर जिसका कि अनुभव हमारी इंद्रियों ने किया, उस में एक गुण और था, वह गुण था उसका 'अस्तित्व में होना।' हमने इसका आभास किया कि 'वह है' इसका हमको स्पष्ट ज्ञान हुए बिना ही अनुभव हो गया। इस अस्तित्व के दिव्य तत्व का आभास जिसके बिना कि इन्द्रियों के सब अनुभव भी सम्भव न हो सकेंगे बहुधा अनुभवी के अन्य अनुभवों में व्यस्त होने के कारण उसके ध्यान में आने से रह जाता है।

अनुभवों के पीछे सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म दिव्य तत्व के समान सिद्धता की महान शक्ति निवास करती है। यह उपनिषद उस मन्त्र से आरम्भ होता है जिसमें ऋषि हमें इस बात की राय देते हैं कि हमें इस चेतना का ज्ञान अपने आपको अनुभवों की व्यस्तता की ओर से हटा कर त्याग द्वारा करना चाहिये। दृष्टिगोचर बाह्य पदार्थ का स्वभाव परिवर्तन शील है परन्तु उसके पीछे का सत्य अपरिवर्तित रहता है। दृष्टिगोचर बाह्य पदार्थ नश्वर है और उनके पीछे का सत्य अविनाशी। दृष्टिगोचर बाह्य पदार्थ बहुसंख्यक है और उनके पीछे का सत्य अद्वैत।

अपने आप को इस सर्वव्यापी सत्य के साथ एक रूप कर देना ही अपनी आत्मा को पहचान लेना है। जगत के भ्रमोत्पादक बहु-आकारों में उस एकता का भास कर लेना ही इस बहु संख्यक बाह्य जगत में उस सत्य को जान लेना है। यह एक मिश्रित रूप में किस प्रकार किया जा सका है यही ईशावास्योपनिषद की समस्त विचार धारा है। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते जायेंगे आप को इसका ज्ञान होता जायगा।

जब हम से यह कहा जाता है कि इस संसार के गौण पदार्थों के

ऊपर एक महान शक्ति का स्वामित्व है, तब गुरू हम से इसका अनुरोध करते हैं कि उस शक्ति के असीम सुख का अनुभव हम स्वयं अपने भ्रमोत्पादक मोह का त्याग करके करें। अपने अनुभवों के जंगल में इस मोह को हमने स्वयं ही सींचा है।

भूत का वह आकार जो खम्भे में दिखा था सभी जीवों के मन को अजीब घबड़ाहट व उलझन में डाल देता है। अपने मन को फिर से स्थिर व शान्त करने के लिये यात्री के पास केवल एक साधन है वह यह है कि यात्री खम्भे के अस्तित्व का ज्ञान कर ले। अपने इस साथी को जो कि खम्भे में प्रेत देख रहा है, हम जिन्हें उसके साथ रहकर भी ऐसा आभास नहीं हो रहा है केवल एक राय दे सके हैं 'प्रिय मित्र, प्रेत के स्वरूप को मन से निकाल कर उस का त्याग कर दो और प्रसन्न हो जाओ।' प्रेत के पीछे वास्तव में खम्भा है। जब तक हम प्रेत के आकार में उलझे हुये हैं, तब तक हमारे हृदय में इतनी स्थिरता ही नहीं है न हमारी बुद्धि इतनी शान्त है कि हम उसके पीछे का खम्भा देख सकें। एक बार खम्भे का ज्ञान हो जाने के पश्चात् प्रेत का अस्तित्व रह ही नहीं सका। खम्भे का दृष्टिगोचर हो जाना ही शान्ति की खोज कर लेना है। अभी कि मानसिक अशान्ति केवल एक दृष्टि का भ्रम है और इसी कारण भय का मन में स्थान है।

उपनिषद के ये महान आचार्य इस प्रथम मन्त्र में केवल इसी की राय देते हैं कि असत्य का त्याग कर दो और तभी तुम सत्य के वास्तविक आनन्द का उपभोग कर सकते हो।

इस प्रकार उपनिषद के इस सर्व प्रथम मन्त्र में केवल सत्य की एक घोषणा और सत्य का वास्तविक अर्थ ही नहीं बताया गया है परन्तु उसकी प्राप्ति का एक स्पष्ट रूप भी दर्शाया गया है। दार्शनिक सौन्दर्य व साहित्य की सिद्धता की दृष्टि से ही इस मन्त्र को पराकाष्ठा पर पहुँचा देने के लिए पर्याप्त थी, परन्तु इतना ही नहीं है अपने इस

सारे प्रयास को चरम पराकाष्ठा पर पहुँचाने के लिए इसी मन्त्र में ऋषि इस ओर भी संकेत करते हैं कि एक साधक को अपनी इस यात्रा पर किस प्रकार रहने की चेष्टा करना चाहिये तथा एक सिद्ध पुरुष इसके उपरान्त किस प्रकार का जीवन व्यतीत करेगा । साधक को पथ-प्रदर्शन का और सिद्ध जन की मानसिक अवस्था का वर्णन हमें मन्त्र के अन्तिम चरण में मिलता है । 'दूसरे के धन के प्रलोभन में न पड़ो' प्रलोभन का उदय इच्छा के गन्दे गड्ढे से होता है इच्छा विचारों को प्रोत्साहित करती है और विचार कर्मों को ।

उपनिषद के आचार्य दूसरों के धन के प्रलोभन से बचने को कहते हैं और इस प्रकार के साधक को संयम का कठिन जीवन व्यतीत करने का आदेश देते हैं । इच्छाओं को वश में करना वास्तव में कर्म को वश में करना है और इस प्रकार अन्त में जाकर यह केवल अपनी भूलों व अपने अज्ञान का गला घोटना है ।

शंकर एक पग आगे और बढ़ कर इस मन्त्र के अन्तिम चरण का अर्थ ऋषि की एक घोषणा के रूप में लेते हैं कि यह धन किसका है ? इस प्रश्न से उनका अभिप्राय इस अर्थ से है कि कोई भी धन ऐसा नहीं है जो किसी के पास स्थिर होकर रहे और न संसार में कोई भी वस्तु ऐसी है जो अचल होकर किसी के पास निवास करे; हम स्वयं ही क्षणभंगुर हैं और यह वाह्य पदार्थों का जगत भी नश्वर है फिर इस अनन्त परिवर्तन के चक्र में कौन प्रलोभन करे और किसका ? इस प्रकार किसी वस्तु की इच्छा करने का प्रश्न ही हास्यास्पद हो उठता है क्योंकि हमारी इच्छाओं के योग्य इस जगत में कोई सामग्री ही नहीं है ।

इस अनुपम उपनिषद का प्रथम मन्त्र ही एक संक्षिप्त दार्शनिक पुस्तक है और वह सत्य की परिभाषा, फिर उस सत्य को प्राप्त करने की कला और तत्पश्चात् एक सिद्ध पुरुष को अपने प्रतिदिन के जीवन

में किस वस्तु का मूल्यांकन करना चाहिये, इसके विस्तृत वर्णन से परिपूर्ण हैं।

इनमें से एक-एक विषय के विवेचन पर, पुरानी पद्धति की पुस्तकों पर, अध्याय के अध्याय लिख दिए गए हैं, और यहाँ इस मन्त्र में वे सभी विषय इतनी सरलता के साथ मन्त्र के एक-एक पद में समाकर आ गए हैं। इस प्रकार इस मन्त्र के चार पदों में दार्शनिकता के चार भिन्न-भिन्न रूप विवेचन सहित परिपूर्ण रूप से केवल भाषा के सारगर्भित शब्द तथा सांकेतिक पदों के प्रयोग द्वारा ही आ सके हैं।

हमारी पीढ़ी में जो त्याग मार्ग व कर्म मार्ग के अनुयायी हैं यह मन्त्र उन्हीं के लिये है। दूसरे मन्त्र में कर्म मार्ग की पूर्ण कला का दिग्दर्शन है जो कि दूसरे विरोधी दल को मान्य है।

इन दोनों का वाद-विवाद एक अमर और अनन्त वाद-विवाद है। इतिहास में अपने-अपने काल में होने वाले बुद्धिमानों में समय-समय पर इन दोनों मार्गों को लेकर महान वाद-विवाद हुए हैं। लहरों के समान आ आ कर समय समय पर इन दोनों ने ही समाज को अपने वश में रक्खा। इतिहास के एक काल में प्राणियों से त्याग तथा ज्ञान के मार्ग को अपनाकर जीवन व्यतीत करने का अनुरोध किया जाता है फिर उसके पश्चात् विद्रोह की लहर आती है और इस आन्तरिक विकास और आन्तरिक शान्ति के स्थान पर इतिहास एक वाह्य सभ्यता, आर्थिक लाभ तथा शारीरिक सुखों को स्थान देता है। यह काल परिश्रम और पसीना बहाने का होता है।

ईशावास्योपनिषद इन दोनों मार्गों; ज्ञान मार्ग तथा कर्म मार्ग के बीच एक समाधान मालूम होता है।

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीवेषच्छतँ समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

शब्दार्थ—इस जगत में शास्त्र कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करते हुए रहना चाहिये। यही उचित है, इसके अन्यथा कोई और उचित मार्ग नहीं है, मनुष्य को कर्म से मुक्त करने का यही एक साधन है।

इससे पूर्व मंत्र में जो जिस लक्ष्य की ओर संकेत किया गया है वह अवश्य ही अनन्त और अखंड है और वही प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य है। उस लक्ष्य की ओर सुगम और सीधी यात्रा के लिये यात्री को पर्याप्त मात्रा में मानसिक व बौद्धिक शक्ति की आवश्यकता है। इस यात्रा में अग्रसर होने के लिये उसके ऊपर बोझा हलका होना चाहिए और शरीर के अवयव सुदृढ़ होना चाहिये उसमें त्याग की भावना होनी चाहिये, उसकी प्रकृति तीक्ष्ण विवेक की होनी चाहिये, उसमें दृढ़ संकल्प शक्ति तथा घोर आत्म विश्वास होना चाहिये। इन सब के साथ साथ उसे गुरू का आशीर्वाद भी प्राप्त होना चाहिये जो उसे ऋषियों की सारगर्भिता तथा विशेष अर्थ समझा सके।

हम सभी अपनी-अपनी प्रकृति में भिन्न हैं। ज्ञान के मार्ग के यात्री के लिये जो गुण आवश्यक हैं हम में से बहुत से उनसे वंचित हैं। हममें से प्राय: प्रत्येक को धन की कामना है सभी को यश और कीर्ति से सम्बन्ध लगाये रखने की एक छुपी अभिलाषा है। ऋतियाँ कहती हैं कि सांसारिक जीवन की तरफ जिन की प्रवृति है कर्म मार्ग उन्हीं के लिये है।

महान ऋषियों ने अत्यन्त निर्मोही भाव से समय के क्षेत्र पर इतिहास की घटनाओं को होते और सिमटते देखा है। अगर इतिहास को हम भी उसी अलिप्त भाव से देखें तो हमें भी मनुष्यों के भाग्य के परिवर्तनों की तह पर एक आधारिक सत्य दिखाई पड़ेगा। जब जीवन के अनन्त व पूज्य गुणों का परित्याग किया जाता है तब वह पूरी पीढ़ी विनाश को प्राप्त होती है और उनके प्रतिद्वन्द्वी प्राय: उसी मात्रा में

लगन, श्रद्धा और शक्ति के साथ उन्हीं दार्शनिक सत्य तथा धार्मिक सिद्धता के पूज्य गुणों को अपनाते हैं और इसी कारण उनका उत्थान होता है ।

इस प्रकार जीवन के इन परिवर्तनों का सामीप्य से अवलोकन कर के इन महान ऋषियों ने अपनी कुशाग्र बुद्धि द्वारा सक्रियता निष्क्रियता, अक्रियता का परिणाम ढूंढ़ निकाला था । उनके हिसाब से अक्रियता वाह्य की शारीरिक निष्क्रियता वास्तव में महान आन्तिरिक सक्रियता पर एक आवरण है—यह सब से महान है और त्याग तथा ज्ञान मार्ग के साधनों की प्रवृति उसी के प्रति होती है । इसी के बिल्कुल विपरीत है निष्क्रियता यह है आन्तरिक उदासीनता, आलस्य तथा काहिली ; यह पूरी पीढ़ी का नाश कर देती है। सक्रियता एक शक्तिशाली सोच विचार कर किया गया प्रयास है चाहे वह किसी इच्छा की पूर्ति के लिये हो, वह उसी कर्म को लक्ष्य मानकर करने वाले व्यक्ति को आनन्द देने के लिये हो ।

श्रुतियों के आचार्य इस बात की घोषणा करते हैं कि इतिहास के किसी काल में अगर किसी पीढ़ी की प्रवृति अक्रियता की ओर नहीं है और अगर वह पूर्वोक्त मंत्र के अनुसार ज्ञान मार्ग को नहीं अपना सकी है तो उसे तत्काल ही सोच विचार कर पूर्ण शक्ति के साथ कर्म के पवित्र क्रम को अपना कर 'कर्म मार्ग' का अनुगमन करना चाहिये । यहाँ यह दूसरा मंत्र 'कर्म मार्ग' की महिमा को समर्पित कर दिया गया है ।

आचार्य कहते हैं कि 'ईश्वरीय कर्म करके ही प्राणी को सौ वर्ष जीवित रहनें की इच्छा करनी चाहिये' पूर्व के मंत्र में हमें यह तो बता ही दिया गया है कि ध्यान मार्ग पर केवल उन्हीं को अनुगमन करना चाहिये जिन्हें धन तथा यश की अभिलाषा न हो । परन्तु ऋषि

ने इस बात का आभास किया कि भावी पीढ़ियों में प्रत्येक प्राणी में तो इतनी विवेक पूर्ण बुद्धि तथा इतनी निर्मोहकता न होगी कि वे उस मार्ग पर चल सकें। साधारणतया अधिकता ऐसे ही प्राणियों की होगी जिनमें तीव्र इच्छायें व अभिलाषायें हों और फलस्वरूप उनके मन व उनकी बुद्धि में उनकी स्थिरता न होगी कि उनका मन व बुद्धि उनके परे जाकर सरल व भव्य उड़ान कर सके। उन्हीं के लिये ये हमारे अमर गुरू 'कर्म प्रधानता' का मार्ग बतलाते हैं। ये भाव "लगातार कर्म करते जाना" बड़ा शक्तिशाली है। इसका अभिप्राय कुछ ऐसा निकलता है कि एक बार मनुष्य जन्म पाकर कर्म से छुटकारा नहीं पाता है।

इस कारण उपनिषदों ने परिश्रम तथा स्वेद कण की चरम महत्ता को भी स्वीकार किया है। 'कर्म की महानता' को जितना हिन्दू धर्म ने धार्मिक रूप देकर महत्ता दी है उतना कहीं और नहीं दी गयी है। अच्छे कर्म तथा वे कर्म जिनका फल किसी को समर्पित करके किया जाता है, मनुष्य की पशुता की भावना को साध कर मनुष्य को बहुत शीघ्र ही सभ्य बना देते हैं और उन्हें संयमी व सिद्ध बनाने में सहायक होते हैं। जो एक बार यह जान लेते हैं कि वास्तव में कर्म क्या है, तो कर्म उनके लिये एक बोझा न होकर जीवन में रसास्वादन लाने वाली चटनी के समान हो जाता है। परन्तु जब कि एक पूर्व पीढ़ी शक्तिहीन व पतित होकर भ्रमपूर्वक अपनी शक्ति का शान्त अर्थ लगा कर पदच्युत हो गई हो, और भयानक विनाश की ओर जा रही हो, तो फिर तो वो 'उजरत ज्यादा काम कम' के गति में ही गिरेगा। उनको तो 'धन ही धन और काम नहीं' का स्वरूप होने पर भी घोर अशान्ति ही मालूम पड़ेगी। आलस्य में हर्षोन्मत्त होने के लिये मनुष्य का जन्म नहीं हुआ है। ऐसे तामसिक पुरुष को प्रकृति कोड़े मार-मार कर सीधे सादे मार्ग पर ले आयेगी और अन्त में उसे धीरे-धीरे सिद्ध

करके आनन्द की उस अवस्था में ले आयेगी जो कि सक्रियता द्वारा निष्क्रियता से प्राप्त होती है और जिसे हम पहले अक्रियता का नाम दे चुके हैं।

पहले की तरह इस समय भी में जो कह रहा था उससे कुछ हट गया हूँ परन्तु आधुनिक काल की चर्चा आने पर मुझे इधर हट आने का खेद नहीं है। हमारी यज्ञशाला विश्वविद्यालयों से निकले अयोग्य व्यक्तियों को पंडितों में बदल देने के लिये नहीं है। उसके विपरीत हम आज यहाँ इस लिये एकत्रित हुये हैं कि हम सब मिलकर अपनी-अपनी शक्तियों को एक वास्तविक शुद्धता का समुद्र बना दें। वास्तव में यही हिन्दू धर्म की परिभाषा है।

आज के विनाश ग्रसित हिन्दू धर्म के आन्तरिक वेदान्त की दार्शनिकता का अर्थ पलायनवाद के रूप में समझा जाने लगा है। यह हमारा अन्ध विश्वास है जिसकी पुष्टि आजकल के निरक्षर पंडितों ने की है। तोते के समान रटी हुई पौराणिक कथायें आजकल विद्वता, ज्ञान व पांडित्य के नाम की गौरवशाली विजय पताका मानी जा रही हैं। इस प्रकार की भ्रम पूर्ण धारणायें केवल हमें वेदान्त से अनभिज्ञ रख कर निरन्तर पतन की ओर ही नहीं ले जा रही हैं, परन्तु हम निर्लज्जता के साथ अपनी द्वन्दी भ्रमपूर्ण धारणाओं को वेदान्त के अन्तिम निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यहाँ वेदान्त की पाठ्य पुस्तक का एक मंत्र है—एक तो उपनिषदों में सर्व प्रथम उपनिषद, ऊपर से उसका दूसरा ही मंत्र—जो कि इस बात की घोषणा करता है कि जो त्याग और संयम का परम मार्ग नहीं अपना सका है उस को अवश्य ही कर्म के इस जगत में निरन्तर कर्म और प्रयास से अपना पसीना बहाकर अपनी समस्त इच्छाओं को पूर्ण कर लेना चाहिये, और उसे अपने आपको यह सिखाना चाहिये कि वह इसी प्रकार उत्साह से कर्म करता हुआ एक शत वर्ष जिये।

उपनिषद इस काल को दुहराते हैं कि इस प्रकार तुम्हारे लिये यह ठीक है और इसके अन्यथा ठीक नहीं है। पाठ्य पुस्तक इस बात पर ज़ोर देती है कि केवल एक यह ही मार्ग है, इसके अलावा सभी अन्य काल्पनिक व संभव मार्गों का निषेध करो। उसके लिये जो इस प्रकार जीवन की प्रवाहित धारा के अन्दर कूद पड़ता है कि नित प्रतिदिन जीवन में उठने वाले नये संघर्षों का प्रसन्न चित्त सामना करे तथा जीवन के हर मोड़ व हर कठिनाई का शुद्धता व सत्य के आधार पर यथाशक्ति मुकाबला करने का साहस रक्खे—कर्म ऐसे मनुष्य से चिपका नहीं करते।

हालाँकि हमारा ध्येय तो अक्रियता त्याग मार्ग का है, परन्तु एक पशु मनुष्य को दिव्य मनुष्य बनने के लिए मध्य के एक संगम 'मनुष्य मनुष्य' पर आना आवश्यक होता है। पशु मनुष्य निष्क्रियता में ही विभोर होता रहता है जब तक कि वह अपने आप सिद्ध होकर मनुष्य मनुष्य' की श्रेणी को नहीं पहुँच जाता है। यह पशु मनुष्य अपने आप सिद्ध प्रथम तो अपनी इच्छा पूर्ति से प्रेरित होकर निरन्तर कर्म करने से होता है, उसके पश्चात् इच्छा रहित तथा बिना किसी इच्छा से प्रेरित हुआ सूक्ष्मतर कर्म करके सिद्ध होकर 'मनुष्य मनुष्य' की श्रेणी को पहुँचता है। 'स्वार्थ विवश कर्म' पहले 'स्वार्थ रहित कर्म' को स्थान देता है और स्वार्थ-रहित कर्म मनुष्य के मन और बुद्धि को शुद्ध करके अपने ध्येय की पूर्ति करता है और इस प्रकार प्राणी को ध्यान मार्ग की ओर प्रेरित करता है।

पुरानी श्रुतियों में 'कर्म' शब्द केवल 'यज्ञात्मक कर्म' के अर्थ से प्रयोग में आता है और कर्म पौराणिक काल में 'आश्रम धर्म' के रूप में व्याख्यात किया जाने लगा। उपनिषद के उस शब्द का आज हमको इस आधुनिक काल में एक अधिक विस्तृत अर्थ निकाल कर उस शब्द में नवजीवन संचार करना है। अब हमें उसके अर्थ के अन्तर्गत

अपने दिन प्रतिदिन के सभी कर्म लाने होंगे चाहे वे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व ग्रहस्थ के हों। यह सब कर्म जब कि निलिप्त भावना से किये जाते हैं तब उन कर्मों की प्रतिक्रिया नहीं होती। परन्तु जब वही कम किसी आशा व किसी विशेष फल की अभिलाषा से किये जाते हैं तब ये कर्म अपनी प्रतिक्रियाओं के रूप में कर्ता से लिपटे रहते हैं। इस प्रकार एक प्राणी को उसकी बुद्धि में यदि इतनी समता है तो कर्म को केवल कर्म करने ही की भावना से करना चाहिये।

आसक्ति कर्म करने की शक्ति को ही केवल दूषित नहीं कर देती परन्तु कर्ता के मन पर अपना एक प्रभाव छोड़ जाती है जिससे कि उसके जीवन के प्रत्येक पहलू के समस्त कर्म उससे प्रभावित होकर प्रतिभाहीन व शक्तिहीन हो जाते हैं। निर्व्यक्तिकरण ही प्रेरणा का रहस्य है और प्रेरणा के अधीन रहकर किया गया कार्य निश्चित ही अपने प्रभाव में हजार गुना अदम्य होता है।

कर्ता का कर्म से अपने आपको इस प्रकार व्यक्तित्व रहित कर देना ही प्रत्येक शाश्वत कर्म का रहस्य है। उपनिषद प्रत्येक प्राणी से जिसमें कि काम करने की शक्ति है इस बात का अनुरोध करते हैं कि वह इस जगत में निरन्तर एक प्रेरणा से कर्म करता रहे।

इस प्रकार निर्लिप्त भाव से किये गये कर्म कुछ काल के पश्चात् कर्ता के मन व बुद्धि का सर्व दूषित दोषों से शुद्ध कर देते हैं; उदाहरणार्थ इच्छा, लिप्सा, घृणा, स्वार्थ्य तथा ईर्ष्या। इस प्रकार से सिद्ध किये हुए मन व बुद्धि में ही उतनी क्षमता आ सकी है कि वह भजन से उच्च ध्यान द्वारा सदाचरण का यह मार्ग तय कर सकें।

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताऽस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

शब्दार्थ—वे सब संसार सूर्य रहित हैं और घोर अन्धकार में लिप्त हैं जिसमें कि वे सभी प्राणी यहाँ से जाने के पश्चात् जाते हैं जो कि अपनी आत्मा का हनन करते हैं।

यहाँ उस ध्येय व अन्तिम निष्कर्ष का वर्णन है जिसको कि (अपनी आत्मा का) आत्मघात करने वाले प्राप्त करते हैं। इस उपनिषद की विचारधारा में प्रथम मन्त्र तो (त्याग मार्ग के साधनों का) अन्तिम ध्येय समझानें में अर्पित कर दिया गया है, और उसी में यह बतलाया गया है कि उसकी प्राप्ति किस प्रकार हो सकी है। दूसरे मन्त्र की बलि कर्म मार्ग को समझाने में कर दी गयी है—जिनके मन व बूद्धि में ध्यान मार्ग को अपनाने की क्षमता नहीं है यह कर्म मार्ग उनके लिए है। इस प्रकार उन महान ऋृषियों ने मनुष्य जाति को दो भागों में विभाजित कर दिया था—एक ध्यानी दूसरे कर्मयोगी। प्रत्येक प्राणी जिसने कि इस पृथ्वी पर जन्म पाया है इन दोनों में से किसी एक मार्ग का अनुगमन कर सका है वह या तो ध्यानियों में सम्मिलित हो सका है या संसार के श्रेष्ठ कर्म योगियों में।

कर्म यदि ठीक से किया जाय तो प्राणी की बुद्धि को इतना विकसित कर देता है कि वह आराम से ध्यान के साधन को अपना सका है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जो न तो ध्यान मार्ग को अपनाते हैं न कर्म मार्ग को उनका भाग्य निर्णय किस प्रकार होगा ? यह मन्त्र उनका व उनकी यात्रा का ही वर्णन करता है। उपनिषदों के आचार्य इस बात की घोषणा करते हैं कि एक बार जन्म लेने के पश्चात् व्यक्तिगत प्राणी या तो समुदाय, देश व समाज जो इन दोनों मार्गों; ध्यान मार्ग निरन्तर लग्न के साथ व कर्म मार्ग का अनुगमन नहीं करते हैं और उससे विमुख रहते हैं, वे चाहे व्यक्ति प्राणी हो व पूरा देश, समुदाय व समाज हो उसे आत्मघाती ही माना जा सकता है। ऐसा

देश अवश्य ही दुःख व अन्धकार की गति में पड़ेगा। वह प्राणी व वह देश अवश्य ही अपनी सभ्यता व आध्यात्मिक स्तर में एक पतन का अनुभव करेगा।

इसी पतन व विनाश की उपमा यहाँ इस सुन्दर शब्द विन्यास 'सूर्य्य रहित जगत' से की गयी है। 'सूर्य्य रहित जगत' को यह समझ लेना कि वह प्राचीन अर्थ रहित भाव है उसके अर्थ को पूर्णतः न समझ सकना ही है। अवश्य ही ऋषियों की भाषा प्राचीन है—प्राचीन ही क्यों अब तो वह मृत ही है—पर वह अमर विचारों का उद्गार है। इस कारण वह जीवन के सभी विद्यार्थियों के लिये नित नूतन है व भाषा सौन्दर्य से ओत-प्रोत है। 'सूर्य्य रहित जगत' के शाब्दिक अर्थ के भ्रमपूर्ण अर्थ में हमें न पड़ना चाहिये; क्या हम आजकल के अपने इस आधुनिक काल में किसी एक व विनाश ग्रसित काल को 'अन्धकारमय युग' कह कर सम्बोधित नहीं करते हैं।

अगर कोई पीढ़ी दिव्य जीवन के उच्च गुणों को अपना कर नहीं रह सकी है तो अवश्य ही उसे अपने साँस्कृतिक कार्यों तथा रचनात्मक कार्यक्रम में कम से कम एक उत्साह और उमंग से काम करना चाहिये कि वे पर्याप्त का उपार्जन कर सके, उसका सम विवरण कर सके तथा स्वतन्त्रता पूर्वक रह सकें। संक्षेप में यह संसार अपना अस्तित्व निरन्तर परिश्रम से कर्म करने के द्वारा ही कायम रख सका है चाहे वह आध्यात्मिक स्तर पर हो या उसके आर्थिक क्षेत्र में।

यह मन्त्र जिस पर कि हम इस समय विवेचन कर रहे हैं हमें उस भय की ओर से सचेत कर रहा है जिससे कि हम अपने सामुदायिक जीवन में भलीभाँति परिचित हैं। अगर कोई समुदाय न तो उच्चतर गुणों का ही जीवन व्यतीत करना चाहती है और न उसमें अपने आर्थिक कार्यक्रम को सुव्यवस्थित करने की क्षमता ही है तो उस समस्त पीढ़ी का धीरे धीरे मन व बुद्धि का पतन होता चला जाता है और वह

पीढ़ी अतिशयोक्ति का पैशाचिक जीवन व्यतीत करने लग जाती है। उसके पश्चात् उनके लिये पशुओं की दार्शनिकता ही रह जाती है। फिर उनका व्यसन यही रह जाता है कि कम से कम परिश्रम से अधिक से अधिक धन उपार्जित हो सके, जितनी काहिली सम्भव हो व जितना भी आराम मिल सके उतना भोग लें, अविवेक पूर्ण सन्तानोत्पत्ति करते चले जाएँ और फिर उस सन्तान के प्रति उनका कोई कर्त्तव्य न हो। अगर किसी भी समुदाय का यह ही अस्तित्व होगा तो फिर अवश्य ही वह समुदाय इतिहास की भाषा में आत्महीन व जीवनहीन कहलायगा और फिर वह अवश्य ही आपकी सभ्यता को वह रूप देगा जो कि उसको अन्धकारमय युग के दुःखों की ओर ले जाय।

यह ऐतिहासिक सत्य जब कि एक प्राणी पर अपना प्रभाव डाल सका है तो अवश्य ही एक समुदाय के अनेक प्राणियों को भी प्रभावित कर सकता है। अगर कोई प्राणी अपने आपको जाग्रत करने का और विकसित करने का पुण्य कार्य करने से विरोध करता है तो उसे अवश्य ही अकथ परिश्रम का, अपनें कर्तव्यों के प्रति चैतन्य रहने का तथा उन्हें समुचित रूप से निभानें का काम अपनाना पड़ेगा। परन्तु अगर वह प्राणी इन दोनों में से किसी को भी अपनाने के लिये तैयार नहीं है तो वह मृत और निर्जीव माना जायगा जो अकर्मण्यता के बोझ से दबा है, जो देखने में तो जीवित है पर वास्तव में मिट्टी का बना एक निर्जीव पुतला है। वास्तव में ऐसे प्राणियों को हमारे महान ऋषि चलते हुए मुर्दे ही मानते थे। इस प्रकार के दूषित (demon) प्राणियों को ही श्रुतियाँ, अपनी आत्मा का हनन करने वाले प्राणियों के नाम से सम्बोधित करती हैं।

हमारी श्रुतियों के विद्वान इस बात की भविष्यवाणी करते हैं कि इस प्रकार से 'अपनी आत्मा का हनन करने वाले प्राणी' अपने इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् 'सूर्य्य रहित जगत' में जाते हैं।

यहाँ पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर स्पष्ट संकेत है। पूर्व के सभी प्रसिद्ध धर्म पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। पश्चिमीय धर्म पुस्तक बाइबिल न भी निशंक रूप से पुनर्जन्म को माना है। यहाँ श्रुतियाँ स्पष्ट रूप से इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् आत्मा के जीवन की ओर संकेत करती हैं।

मृत्यु के बाद जो अहं-केन्द्रित जीवकोष भौतिक शरीर से अलग होता है, वह अपनी प्रेरक शक्ति से ही जो वह अर्जित मनोवेगों से प्राप्त करता है परिचालित होता रहता है। मन अपने पूर्व अनभवों से अर्जित वेग में ही संचरणशील होने की गति प्राप्त करता है। इस प्रकार जबकि कोई अस्मिता सुषुप्ति तथा निश्चेष्टता का जीवन व्यतीत करती है जसमें ध्यान का सूक्ष्म ध्यापार या भौतिक सुखों को स्थूल व्यापार ही असम्भव हो तो वह पशुमय जीवन की ओर अध:पतित हो जाती है।

मन इस प्रकार सजीव से मूक होकर, अपनी भावनाओं से चाबुक खाकर और प्रेरित होकर नीचे की योनियों के असितत्व की ओर धँसता जाता है और इस प्रकार पशुयोनि, वनस्पति योनि व पाषाण योनि में जन्म पाता है। इन जीवों व वस्तुओं का क्षेत्र सूर्य रहित है क्योंकि वे अचैतन्य क्षेत्र के जीव व वस्तु हैं। सूर्य प्रकाश का परियायवाची है चैतन्यता। संक्षेप में ऐसा प्राणी जो आध्यात्मिक व धर्मनिरपेक्ष कर्म दोनों से विमुख रहता है वह अपने पतन का आभास किये बिना ही पतन की ओर अग्रसर होता चला जाता है। जिस प्रकार एक प्राणी इस प्रकार पतन को प्राप्त होता है उसी प्रकार पूरे देश व समुदाय का भी भाग्य निर्णय वही होगा अगर वे उस प्रकार का जीवन व्यतीत करेंगे, तो।

अनेजदेकं मनसो जवीवो नैनद्वेवा आप्नुवपूर्वमर्षत्।
तद्धापतोऽन्यानत्येति तिष्टन्तस्मिन्नपो मातरीश्वा दधाति।४

शब्दार्थ—आत्मा अचल है, मन से भी अधिक गतिवान है, देवता

भी उसको नहीं पा सके । वह उनके आगे निकल जाती है, "मातरीश्वा" के कारण वह सब जीवों में जीवनदायनी है । बैठे हुए भी वह उनसे तेज़ जाती है जो उसके पीछे भागते हैं ।

इस मन्त्र में तथा इसके आगे आने वाले लगातार चार मन्त्रों में परमात्मा के गुणों का वर्णन है । 'अनन्त' में अपना कोई गुण नहीं है परन्तु उसके व्यय करने वाली भाषा सीमित है । वह या तो केवल अनुभव व्यक्त कर सकी है व गुण । यहाँ सत्य के जो गुण दर्शाये गये हैं उनका शाब्दिक अर्थ नहीं निकालना चाहिए । इस सीमित भाषा में असीम का वर्णन करना एक दुर्लभ प्रयास है । भाषा की अव्यक्त को व्यक्त करने की असमर्थता स्पष्ट रूप से उपनिषद के इन चार मन्त्रों में भी झलक जाती है जिनमें कि वे उसके वर्णन का प्रयास करते हैं ।

'आत्मा अचल है' ऐसा उपनिषद का कथन है । यहाँ अचल शब्द से यह अर्थ नहीं निकाल लेना चाहिये कि आत्मा में गति की शक्ति नहीं है और वह शक्तिहीन है । 'अचल' शब्द केवल उसकी सर्वव्यापकता की ओर संकेत करता है । गति समय व स्थान का एक परिवर्तन है । मैं एक कुर्सी से उठकर दूसरी कुर्सी पर बैठ सका हूँ; फिर मैं पहली कुर्सी पर बैठा नहीं रह सका । एक वस्तु दूसरे स्थान पर तभी जा सकती है जब वह पहले स्थान की जगह छोड़ दे । जब मैं इस कुर्सी पर बैठा हुआ हूँ तब फिर मैं उसी कुर्सी पर नहीं बैठ सका हूँ क्योंकि उसकी सारी खाली जगह मैंने भर रक्खी है । इसी प्रकार आत्मा इसलिए अचल है, क्योंकि वह सर्वव्यापी है । एक सर्वव्यापी तत्व में गति इसलिये नहीं होती कि उसके लिए कोई खाली स्थान ही नहीं है जहाँ वह पहले से न हो, और अब जाय । 'अचल' शब्द का प्रयोग यहाँ केवल यही भाव व्यक्त करने के हेतु किया गया है ।

उपनिषद इस बात पर ज़ोर देते हैं कि आत्मा गति में मन से भी अधिक तीव्र है । आत्मा में गति का विरोध करते समय उसकी गति

में जो शक्ति सम्भव है वह उसका विरोध नहीं करते हैं । संसार में मन की गति तीव्रतम है। परन्तु आत्मा की गति उससे भी तीव्र है, क्योंकि अस्तित्व के जिस स्थान पर मन अपनी दौड़ में पहुँच सका है, उस स्थान पर परम सत्य आत्मा तो पहले से ही विद्यमान है। अपनी विचार शक्ति से आप उस स्थान को देख सके हैं, जहाँ आप पहले जा चुके हैं। अवश्य आप के विचार आपको पूर्व अनुभव किए हुए स्थान पर बिना किसी विलम्ब के ही ले जा सके हैं, परन्तु उस स्थान को तो अस्तित्व के इस सत्य का आशीर्वाद पहले से ही प्राप्त है—इस प्रकार मन जहाँ अपनी उड़ान में पहुँच सका है परम सत्य उसके पहले ही वहाँ पहुँचा होता है।

संक्षेप में आत्मा को यहाँ सर्वव्यापी माना गया है और उसको उन दो रूपों में समझाने का प्रयास किया गया है, जिन दो रूपों से कि हम बाह्य जगत् के पदार्थों को समझ सके हैं। हम गति समझ सके हैं और गति की तेज़ी भी समझ सके हैं। पहले का विरोध करके और दूसरे की पुष्टि करके, हमें यह समझाना चाहते हैं कि आत्मा व चैतन्यता अपने में गतिहीन है। यह अवश्य ही एक वैज्ञानिक तथ्य है परन्तु परस्पर विरोधी भावों का है। हमारी तथ्यों को खोजने वाली बुद्धि तथा अनुभवों की भूखी समझ को 'सर्वव्यापकता' समझाने का एक यही रास्ता रह जाता है। क्योंकि चैतन्यता सर्वव्यापी है इसी कारण वह अचल है और ससार में जितने भी चल पदार्थ हैं वह इसी अचल चैतन्यता के माध्यम में ही चल सके हैं। मन्त्र के प्रथम चरण में यही भाव व्यक्त है।

'जिसको कि देव भी नहीं पा सके; वह उनके आगे निकल जाता है'—यह एक ऐसी घोषणा है जिसे पढ़कर साधारण पढ़ा लिखा बुद्धिमान व्यक्ति भी चकरा जाय। ऐसी ही घोषणाओं के शाब्दिक अर्थ

जब विद्यार्थी समझने का प्रयत्न करते हैं तो वह हतोत्साहित हो उठते हैं और अपने को श्रुतियाँ पढ़ने के अयोग्य पाते हैं। श्रुतियाँ धर्म का विज्ञान हैं, उस के पढ़ने की एक कला है और उसकी भाषा अत्यन्त पारिभाषिक है।

'देव' शब्द का यह जो व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ निकल आया है वास्तव में उसका जन्म 'प्रकाश' का अर्थ रखने वाली धातु से हुआ है। इस प्रकार देव शब्द का अर्थ होता है, जो 'प्रकाश' दें। इसी सम्बन्ध में यहाँ देव शब्द का अर्थ है 'इंद्रियाँ'। आध्यात्मिक साहित्य में बहुधा इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ से किया जाता है

देव शब्द के अर्थ के ज्ञान के पश्चात् इस मंत्र को जब हम फिर से पढ़ते हैं, तो उसका अर्थ हमारे सन्मुख स्पष्ट हो उठता है। आत्मा सदैव इंद्रियों से परे रहती है, वे उसके आगे नहीं निकल सकीं क्योंकि इंद्रियाँ केवल बाह्य पदार्थ देख सकी हैं, और इन बाह्य पदार्थों का अस्तित्व केवल 'वास्तविकता' के माध्यम में ही सम्भव है। केवल चैतन्यता के सोच में ही इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों का अवलोकन व अनुभव कर सकी हैं। यह चैतन्यता निकाल ली जाए तो इन्द्रियां अपना काम करने के योग्य ही नहीं रहेंगी।

'बैठे ही बैठे वह उनसे आगे निकल जाती हैं जोकि उसके पीछे भागते हैं' यहां हमें उपनिषदों के शब्दों के चित्रण करने वाले चितेरे आचार्यों के शब्द विन्यास का एक दूसरा उदाहरण मिलता है। इस प्रकार 'अचल' शब्द से यहाँ यह अर्थ नहीं आता कि वह शक्तिहीन होने के कारण अचल है तथा इस कारण मन्द व गौण है। इस प्रकार वह तो शक्तिहीन व शक्तिवान् होने से ही परे है। यह घोषणा करने से उनका यह अर्थ है कि आत्मा आपके वास्तविक बाह्य स्वरूप में अचल होने पर भी अति गतिवान् है। रेल के इंजिन की भाप अपने वास्तविक स्वरूप में अचल कही जा सकी है। पानी गर्म होकर भाप बना देता है

और उसी भाप से इंजिन चलता है। अवश्य ही भाप की शक्ति से पूरी रेल चलती है। इस प्रकार भाप की भी यह परिभाषा हो सकी है कि वह उन के आगे जाती है जो उसके पीछे भागते हैं—जैसे रेल के डिब्बे।

इस प्रकार आत्मा केवल सर्वव्यापी ही नहीं है परन्तु जीवन की जितनी भी चहलपहल है, उसके पीछे की जीवन शक्ति वही है। आत्मा के अधिष्ठान में ही जीवन का कोई कार्य सम्भव है। जितने समस्त रूप में यह विचार मंत्र तो अन्तिम पद में आया है उतना स्पष्ट यह अन्यथा नहीं देखा जाता। वे कहते हैं कि मातरिश्वा (वायु) इस कारण ही जीवन दायनी है क्योंकि वह सर्वव्यापी अनन्त सत्य से अपनी यह जीवनदायिनी शक्ति पाती है। जीवन और चैतन्यता एक ही है; वह सर्वत्र एक ही सी व्याप्त है; वह सर्वव्यापी है।

इस प्रकार परम सत्य ही वह साधन है जहाँ से वायु को जीवन दायनी शक्ति प्राप्त होती है, जिसके द्वारा उसे जिलाने तथा पालन-पोषण करने की चमत्कार पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है। निम्न-लिखित मंत्र में यही विचार और स्पष्ट रूप से व्यक्त किये गये हैं।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ५॥

शब्दार्थ:—आत्मा गतिवान् भी है और अचल भी; वह दूर भी है और समीप भी; वह सब के अन्दर है, तथा सब के बाहर भी।

पूर्व मन्त्र के विचार ही इस मंत्र में और अधिक स्पष्ट करने के विचार से दुहराए गये हैं। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ आचार्यों की इच्छा केवल यह परम सत्य समझाने की है कि परम चैतन्यता सर्व व्यापी है। इस 'सर्व व्यापी' शब्द का पूर्ण अर्थ समझाने के हेतु ही और उस शब्द के सार गर्भित अर्थ को पूर्णतः अनुभव करने के हेतु ही गुरु

उसे बार-बार दुहरा रहे हैं और भिन्न-भिन्न शब्द विन्यासों से उसको समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

'वह गतिवान् है'—अवश्य ही; खम्भे का प्रेत अपने अमानुषिक हाथों व भयानक चेहरे से भ्रमी के लिये अनेकों प्रकार की हरकतें करता है, परन्तु इस संझा के झुटपुटे में इस प्रेत दृश्य के पीछे जो असली वास्तविकता खम्भा है, 'वह अचल है'। परम चैतन्यता या परम ज्ञान अपने वास्तविक चैतन्य रूप में न गतिवान है और न कार्यशील। वह अपनी महानता में ही व्याप्त है; वह अपने अस्तित्व में ही हर्षोन्मत्त है। परन्तु पदार्थ उसके छूने मात्र से कम्पित हो उठता है, उसमें जीवन आ जाता है, वह गतिवान हो जाता है और चलने लगता है, कार्यशील हो जाता है और आनन्दित होता है।

लहरों से सम्बन्धित होने से सागर उर्मिल, क्वथनशील, वात्याशील, गर्जनशील आदि संज्ञाओं को प्राप्त होता है। परन्तु अपने वास्तविक स्वरूप में सागर लहरें मात्र नहीं है, वह अपनी गहराइयों में प्रशान्त, शान्तिदायक, अचल व महान है। इसी प्रकार आत्मा अपने सर्वव्यापी स्वभाव में अचल है, न वह कार्य करती है, न अकार्यशील है। अपने पदार्थों के आवरण से सम्बन्धित होकर जीवन भी सोचने अनुभव करने और शारीरिक काम करने की परिभाषाओं को प्राप्त होता है। नाव चलती है; झील नहीं।

स्टेशन पर रुकी हुई रेल के डिब्बे में से झाँक कर देखते समय अपने सामने की पटरी पर चलती रेल से यह आभास होने लगता है, मानों अपनी खड़ी रेल ही चल रही है। किसी गतिवान् वस्तु से सम्बन्धित होने पर अपनी वस्तु अचल व शान्त होने पर भी गतिवान् प्रतीत होने लगती है। चलती हुई नाव में से तट पर खड़े वृक्ष गतिवान् मालूम पड़ते हैं; ऐन्द्रियज्ञान सदा सापेक्ष होता है : इसी प्रकार जीवन

के अचल तत्व से देखा जाए तब पदार्थों के अशान्त जीवन से सम्बन्धित-होने पर ऐसा विदित होता है मानों वही जीवन-तत्व गतिवान हो गया हो, हालांकि उसका वास्तविक स्वरूप अचल है।

'वह दूर भी है और समीप भी'—सर्वव्यापकता की परिभाषा केवल यही हो सकी हैं। भारत केवल दिल्ली में ही नहीं है, वह 'कन्या कुमारी' में भी है। भारत सर्वव्यापी है—जहाँ तक कि इसकी सीमान्त रेखा का सम्बन्ध है। इसी प्रकार परम चैतन्यता भी सर्वव्यापी होने के कारण समीप भी है व दूर भी।

उनके लिये, जिसके मन व बुद्धि में इनकी योग्यता है कि वे, आत्मा व पदार्थ में उचित विवेक का उपयोग कर सके हैं, और जिनमें कि इतनी आध्यात्मिक पिपासा है और दिव्यता की इतनी भूख है कि वे अचल होकर ध्यान द्वारा साधना के पथ पर संलग्न हैं, उनके लिये वह परम सत्य अत्यन्त समीप है। उनके लिए अपने व्यक्तित्व के मध्य में ही उसका स्थान है। वास्तव में अपने लिए इस जगत् में सबसे समीप वस्तु हम स्वयम् ही हैं। अवश्य ही दूसरों के लिए यही सत्यता एक बहुत दूर की वस्तु हैं !

इस सत्यता का अनुभव प्राणी को केवल अपने अन्दर ही नहीं करना है परन्तु सर्वत्र इसका अनुभव करना है। परम चैतन्यता एक-जातीय तथा सर्वव्यापी है। इसीलिये जिस आत्मा का अनुभव 'यहाँ' होता है, 'वहाँ' भी उसी आत्मा का अनुभव होगा।

यही विचार फिर एक बार बड़े सामीप्य के इन शब्द-विन्यासों द्वारा व्यक्त होता है 'कि यह सब के अन्दर भी व्याप्त है और सब के बाहर भी'। साधक के लौहिक भौतिक व्यक्तित्व के मध्य ही इस आत्मा का स्थान नहीं है, परन्तु यही चेतना जगत् में सर्वत्र है। यह सोचना कि आत्मा केवल अन्दर है और इस प्रकार अन्तर्मुखी होकर

जीवन बिताना सत्य का विरोध करना है। हमारी हिन्दू श्रुतियाँ ऐसे जीवन का निषेध करती हैं। इस प्रकार जिन्हें उपनिषदों का ज्ञान है वे हिन्दू धर्म को अन्तर्मुखी धर्म कहने की दृष्टता नहीं करेंगे।

इस प्रकार यह पूरा ईशावास्य उपनिषद सच्चे हिन्दू को आत्म-केन्द्रित होने के विरुद्ध एक प्रकार लगेगा, जो बाह्य जगत् में अपने जीवन के प्रति राष्ट्रों के समुदाय से अपने संबन्ध के प्रति तथा अपने परिवार के प्रति गहरी उपेक्षा रखता आया है यदि यह वेदान्त का अन्तःरस नहीं होता तो व्यास, हिन्दू संस्कृति के ध्वंस के अपराधी होते जिसे उन्होंने हिन्दू राष्ट्र के लिए श्री रामचन्द्र जी तथा श्री पार्थसारथि जैसे आदर्श व्यक्तित्व दिये।

वे जीवन से भी कभी विमुख नहीं हुए; न वे जीवन में लिप्त ही हुए। परन्तु जब जीवन ही उनके समीप आया तो वे कभी कर्त्तव्य-च्युत न हुए, और उन्होंने सच्चाई और लगन के साथ अपना कर्त्तव्य निभाया और अशान्ति, संभ्रम तथा आजकल की स्थिति में से भी एक सफलता की मधुर संगीत लहरी फैलायी।

उपनिषद में प्रत्येक प्राणी से बहुशः (अविद्या) के क्षेत्र में कार्य कराके विद्या का साधन बनाया गया है और विद्या को प्राप्त कराके, अनंतर अपने को तथा अपने जीवन को विश्व की सेवा में परिपूर्ण करने का आदेश दिया गया है। हम इस बात की ओर पुनः आयेंगे जब हम उन मंत्रों की व्याख्या देंगे।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चान्त्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

शब्दार्थ :—जो कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व सत्य में ही देखता है और सत्य को प्रत्येक वस्तु में, वह कभी किसी चीज़ से भय नहीं करता।

जैसा कि पूर्व मन्त्र में कहा जा चुका है, अगर एक आत्मा है जिसकी

कि प्राप्ति इतनी दुर्लभ है, और जिसका बोध करना इतना कठिन है तो फिर कोई प्राणी उसको प्राप्त करने व समझने का इतना प्रयास क्यों करे ? अगर कोई प्राणी इस वाह्य-दर्शी अनेकता के पीछे एक वास्तविक आधारिक सत्य आत्मा का अनुभव कर सके, उसे क्या लाभ होगा ? उपनिषदों में लिखे अन्य मंत्रों से इस मंत्र में यह भाव सबसे स्पष्ट रूप से वर्णित है कि आत्म-साक्षात्कार करने वाले साधु को कैसी शान्ति व सुख का अनुभव होता है। इसी कारण यह मंत्र समय-समय से मंच तथा पुस्तकों में उद्धृत किया जाता है।

साधक के लिये इस मंत्र का पूर्ण अर्थ समझना और उसकी सार गर्भिता की तह तक पहुँचना अत्यन्त आवश्यक है। मेरी तो यह राय है कि जिन्हें संस्कृत का पूर्ण ज्ञान नहीं है वे भी अगर इस मंत्र को कंठस्थ कर सकें और शब्दों के उच्चारण से उनका अर्थ निकाल सकें तो वे वास्तव में मानसिक अशान्ति के विष को इस सुधा रूपी मंत्र से सदैव के लिए नष्ट कर सकेंगे।

अपनी अद्वैतता का अनुभव करने से और अपनी ही आत्मा का साक्षात्कार कर लेने से आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ करता, जब तक कि प्राणी इस जगत में व्याप्त अन्य जीवों में एकता का अनुभव नहीं करता। अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर लेना सब जीवों में अपनी ही आत्मा का दिग्दर्शन कर लेना है। एक लहर के स्वरूप को समझ लेना केवल अन्य लहरों के स्वरूप को समझ लेना ही नहीं है, परन्तु सम्पूर्ण सागर के स्वरूप को समझ लेना है। जीवन एक और अखण्ड है, अपने में उसकी झाँकी देख लेना सर्वत्र उसका स्वरूप देखना है।

उस प्राणी ने जिसने कि अपने में इस जीवनदायक तत्व का पूर्णतः अनुभव कर लिया है और जो उसको सर्वव्यापी समझने लगा है, केवल उसी का अनुभव पूर्ण, अनन्त, अमर तथा सत्य है। जिस प्राणी ने कि अपने अंश को ही प्रत्येक प्राणी में व्याप्त देख लिया है; जिसने

अपने ही स्वरूप को सर्वसंज्ञाओं व आकारों का स्वरूप समझ लिया है, वैसा ही प्राणी वास्तव में साधु है, वही अवतार है, वही दिव्य प्राणी है जो जगत् में गुरु बन कर अन्य प्राणियों को मार्ग दिखला सका है।

इस प्रकार का अनुभव करने के पश्चात प्राणी घृणा, संकोच, विरक्ति, भय, उद्वेग आदि मानसिक भावों से विमुख हो जाता है। ये सब भाव अपने से दूसरों को भिन्न समझने से (बहुता की भावना से) उदित होते हैं। जब सारी 'जुगुप्सा' मन से निकल जाती है तब प्राणी एक अनन्त मनोरम शान्ति का अनुभव करता है और फिर वह चाहे किसी भी अवस्था में हो, चाहे अवस्था उसके प्रतिकूल हो या अनुकूल, उसकी यह शांति अखंड ही रहती है।

इस भाव का वर्णन गीता में 'समत्व' कह कर किया गया है। श्री अरविंद ने अपने ईशो उपनिषद में एक पाद टिप्पनी में इस भाव को बहुत स्पष्ट रूप में समझाया है। वे लिखते हैं 'जुगुप्सा' "घृणा का वह भाव है जो कि दूसरों के साथ अभाव सदाचरता के कारण उदित होता है। अपने स्वरूप से दूसरे स्वरूपों की विभिन्नता का अनुभव करने से घृणा, डर, दुख व समस्त कष्टों का जन्म होता है। यह आकर्षण—जिससे कि मोह व आसक्ति का जन्म होता है—उसके विपरीत है। आकर्षण व घृणा दोनों को निकाल देने के पश्चात् हमें 'समत्व' की प्राप्ति होती है।"

अपनी अस्थिरता के कारण ही इस विषयभोग के जगत् में एक प्राणी इतना अयोग्य व निष्प्रभाव सिद्ध होता है। शान्त मन ईश्वर के समान शक्तिवान् होता है। जितना ही हम इस आन्तरिक शान्ति (समत्व) की प्राप्ति करते हैं, हमारा जीवन उतना ही अधिक प्रसन्न व योग्य बन जाता है। परन्तु हमारी इस शान्ति का दुश्मन हमारी अपनी 'जुगुप्सा' की भावना ही है। इस कारण यह तो आदमी आसानी से ही समझ सका है कि अपनी दिव्यता को अपने में एक प्राणी किस हद

तक अधिवसित कर सका है, अगर केवल वह अपने मन में से 'जुगुप्सा' की भावना निकालने के लिए आध्यात्मिक जीवन की कला का अनुकरण करे।

घृणा, भय, विरक्ति तथा उद्वेग के भाव प्राणी अपने से नहीं करता वह यह भाव दूसरे से ही करता है। मेरी बुद्धि, मेरे मन को, मानसिक तौर पर एक बार घृणा व भय की दृष्टि से देख सकी है परन्तु यहाँ भी बहुता की भावना आ जाती है। 'जुगुप्सा' की भावना के लिए दूसरा होना आवश्यक है। पर जब हम दूसरे में अपने स्वरूप का अनुभव कर रहे हैं और निरन्तर यही स्वरूप अनुभव करने का प्रयास कर रहे हैं, तब 'दूसरे की भावना' का स्थान ही कहाँ रह जाएगा ?

दूसरे की भावना मन से जैसे-जैसे अन्तर्ध्यान होती जाती है, 'जुगुप्सा' की भावना भी वैसे-वैसे ही लुप्त होती जाती है। महान ऋषियों की प्रदर्शित परम सिद्धता यही है। यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि संसार के किसी और धर्म में इतनी स्पष्टता के साथ इस वैज्ञानिक सत्य को नहीं समझाया गया है, जितनी स्पष्टता के साथ वह वेदान्त में समझाया गया है। ऋषियों ने यह सोच कर कि एक मन्त्र में यह भाव साधकों को पूर्णतः स्पष्ट न हो सकेगा, दूसरे मंत्र में भी इस भाव को दुहराया है।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभु द्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

शब्दार्थ—जब ज्ञानी के लिये सब जीव एक समान हो जाते हैं और सब अपनी आत्मा सदृश्य ही लगने लगते हैं तब उसे इसके पश्चात् भ्रम किस प्रकार हो सका है ? जो सब में एकता का आभास करता है, उसके लिए शोक के हेतु क्या रह जाता है ?

प्रथम मंत्र में ऋषियों ने हमें निषेध की भाषा में आत्म-साक्षात्कार का वैभव समझाने का प्रयत्न किया था। यहाँ वे वहीं घोषणा विध्यात्मक भाषा में कर रहे हैं। अभी तक हमें यही बताया गया है कि इस प्रकार का ज्ञान करने के पश्चात् प्राणी में किसी के लिये घृणा व द्वैत-भावना नहीं रह जाएगी। यहाँ इस मंत्र में वही भाव अधिक बल व व्यवहारिक निश्चयात्मकता के साथ समझाया गया है।

इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् प्राणी केवल यह ही अनुभव नहीं करता कि वह अपने, असितत्व में औरों से भिन्न नहीं है और केवल उन से एक रूप है, परन्तु इस का भी अनुभव करना है कि उसके वास्तविक स्वरूप में वह वाह्य दृष्टि अनेकता में केवल एक समस्वरता व िंचता ही है। इस प्रकार जिसने अपना स्वरूप अनन्त में लीन कर दिया उस का मन शोक व दुख के साधारण चपेटों के आघात में नहीं आ सका न इसे मोह व शोक द्वारा उत्पन्न भ्रम ही घेरते हैं।

'शोक' एक भ्रम की भाषा का शब्द है। प्राणी के जीवन में शोक की कितनी मात्रा है, यह इस पर निर्भर है कि उसमें भ्रम का अंश कितना है। उस का वास्तविक स्वरूप केवल आनन्दमय है। समता और एकरसता ही आनन्द है। परन्तु जब हम भ्रम से भिन्नता व विस्वरता का अनुभव करते हैं तब उससे शोक का उदय होता है। इसी भ्रम से शोक की उत्पत्ति होती है अतः जितना भ्रमी प्राणी होगा उस में शोक भी उतना ही अधिक व्यप्त होगा।

शोक से परे हट जाना ही प्रत्येक़ जीव का ध्येय है। मोक्ष प्राणी के लिये दुख के सागर के छोर से परे पहुँच जाना है। यहाँ यह मंत्र इस ओर संकेत करता है कि दुख व शोक के सागर के उस पार साक्षात्कार का वह प्रदेश है, अपने में जिस का अनुभव करके साधक समस्त जगत को देखने लगता है।

घटाकाश (घड़े के अन्दर के रिक्त स्थान) को अपनी सर्व-व्यापकता का अनुभव होते ही अपने दुख, सीमित अवस्था व कमियों का आभास नहीं रह जाता। हर एक प्राणी को—जो इस जगत रूपी सागर में एक लहर के समान है—अपने जन्म, वृद्धि, क्षय व मृत्यु के दुख का अनुभव तभी तक होता है जब तक कि वह अपने को दूसरों से भिन्न समझता है; परन्तु एक बार अपने को इस विश्वसागर का ही रूप मानने वाले प्राणी को यह भ्रम ही नहीं रह जाता कि वह औरों से भिन्न है। जहाँ भ्रम को स्थान नहीं है, वहाँ शोक को भी स्थान नहीं है। शोक भ्रम ही का रूप है।

इस प्रकार आत्म साक्षात्कार सिद्ध किये हुये साधु के लिये जो संसार की सब संज्ञाओं में अपना स्वरूप देख रहा है तथा जो प्रत्येक अवस्था में अपनी शक्ति का अनुभव कर रहा है चाहे वह अवस्था शोक की हो व हर्ष की—जीवन की विस्वर झंकारों में एक लय व तान का अनुभव करता है। ऐसे ही पुरुष के लिये आनन्द का श्रोत उमड़ पड़ता है, जीवन की सफलता उसी के चरणों से लिपटती है और शक्ति भी अपनी पूर्ण शक्ति के साथ उसी में निवास करती है। महान से महान दुख भी उसे एक क्षण के लिये विचलित नहीं करता है; गीता का कथन है 'यस्मिन् स्थितौ न दुखेन गुरुणापि विचल्यते' एक बार इस प्रकार सिद्ध हो जाने के पश्चात् घोर से घोर दु:ख भी उसे विचलित नहीं करता।

पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणास्नाविरंशुद्धम् पापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधा-
च्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—यह आत्मा सर्वव्यापी तेजमय, शरीररहित, शुद्ध,

छिद्ररहित, शुद्ध पाप से दूर, दिव्य, संद्रष्टा, लोकातीत, आत्म-प्रकाश है। वह बाह्य पदार्थों की उनके कृत्यों अनुसार रचना करती आयी है।

यह मन्त्र उपनिषद् साहित्य का एक जीता जागता नमूना है—जो कि साधकों के आगे अमर अनन्त का शब्द चित्र न खींच सके तो कम से कम उनकी अनुरक्ति को ग्रहण करने के लिये इस जीवन तत्व आत्मा की एक पूर्ण व वृहद परिभाषा तो दे ही सके। हमारे अन्दर व्याप्त आत्मा का दिग्दर्शन कराने के लिये शंकर जैसे महान आलोचकों ने इसी कारण अपनी आलोचनाओं में बार-बार इस मन्त्र का प्रयोग किया है।

संस्कृत में जब किसी शब्द के साथ विशेषण का प्रयोग होता है तो वह सदैव एक विशेष ध्येय के साथ होता है। उपयुक्त से उपयुक्त विशेषण ढूंढ कर जिस सारगर्भिता को लेखक पाठक के सन्मुख रखना चाहता है उसके उपयुक्त शब्द मिलने पर ही उसका विशेषण के रूप में प्रयोग होता है। संसार की किसी और भाषा में इस ओर इतना ध्यान नहीं दिया जाता है।

'प्रत्यागत्' शब्द का अर्थ है 'बाहर गया हुआ' इस प्रकार यह मन्त्र इस भाव को व्यक्त करते हुए प्रारम्भ होता है कि आत्मा अपने आप को सर्व व्यापी बनाने के हेतु बाहर आकर विस्तृत हो गयी है। दूसरा भाव आत्मा को तेजोमय मानता है। वह तेजोमय है, क्योंकि हमारी बुद्धि को वह ही प्रकाश देती है।

अकायम्—यहाँ आत्मा व शुद्ध जीवन को शरीररहित माना गया है। यहाँ उससे यह अभिप्राय है कि जिन पाँचों कोषों का हम पहले वर्णन कर आये हैं, आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

"छिद्ररहित व माँस-पेशियों से रहित" भाव स्पष्टतः यह कहते हैं कि आत्मा शरीररहित है। विकारों का उदय भौतिक शरीर पर ही हो सका है। जहाँ शरीर ही नहीं है वहाँ शरीर के विकार कहाँ से उदय

होंगे ? इसी भाव को जब इस प्रकार व्यक्त किया जाता है कि 'उसके कोई मांस पेशी नहीं है' तो उस भाव में विशेष शक्ति आ जाती है। 'शुद्ध' शब्द के प्रयोग से यह भाव व्यक्त होता है कि आत्मा के कोई कारण शरीर नहीं है, इस कारण वह पाप से अछूती ही निकल आती है। हमारी अपने प्रति अज्ञानता ही हमारा सबसे बड़ा पाप है। यही भ्रम हमारी सारी पशुता को जन्म देता है और हमें अमानुषिक कृत्यों की ओर अग्रसित करता है।

अभी तक हमारा परिचय ऋषि आत्मा से निषेध की भाषा म करा रहे थे। यही कहते थे कि यह भी नहीं—यह भी नहीं'।

खम्भे में भ्रम से प्रेत देखने वाले भ्रमी को हम वास्तविक खम्भे का ज्ञान दो रूपों से करा सके हैं। एक तो उसको यह बतला कर कि यह जो तुम देख रहे हो वह प्रेत एक भ्रम है और दूसरा उसको खम्भे का वास्तविक ज्ञान करा कर। अपने भ्रमी मित्र को पहले हम केवल निषेध की भाषा में ही समझा सके हैं कि 'यह जो तुम देख रहे हो वह प्रेत नहीं है।' इसी कारण यहाँ भी महान् ऋषियों ने पहले हमें निषेध की भाषा में समझाना शुरू किया है। वे हमें आत्मा के प्रति हमारी समस्त भ्रमपूर्ण धारणाओं को प्रथम निषेध से समझाते हैं। अगर सही तौर पर पथ-प्रदर्शन न किया जाए तो प्राणी मन और बुद्धि को ही आत्मा समझ बैठने का भ्रम कर बैठे। इसी कारण उपरोक्त भाव विद्यार्थी को निषेध के भावों में यह बतलाते हैं कि यह भौतिक सूक्ष्म व कारण शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा इन सब के परे है. अनन्त व पूर्ण।

परन्तु साधक की दृष्टि भौतिक, सूक्ष्म व कारण देह के परे पहुँच ही नहीं सकी इस कारण वह केवल यह समझ सका है कि आत्मा इन तीनों में से कोई भी नहीं है, इसके अन्यथा उसका अपना भी कोई अलग अस्तित्व है, इसका उनको ध्यान भी नहीं आएगा। उनके मन से

इस भाव को निकालने के लिये कि इन तीनों शरीरों के न होने के कारण आत्मा केवल एक शून्य मात्र रह जाती है—उसके अपनी कोई निजी शक्ति ही नहीं है तथा उसकी जीवन दायनी शक्ति को अपने पूर्ण महत्व के साथ हमें समझाने के लिये ही यहाँ उसके गुण एक क्रम रूप से हमारे सन्मुख रखे जाते हैं।

आत्मा सर्वद्रष्टा है: यह इस बात की एक घोषणा है कि विद्वत्ता की यह किरण ही वास्तव में हमारे नेत्रों के पीछे की द्रष्टा है। हमारे कर्ण के पीछे सुनने की शक्ति रखने वाली वास्तव में वह है, वही हमारी जिह्वा के पीछे स्वाद लेने वाली है, वही हमारी त्वचा के पीछे हमें स्पर्श का आभास देने वाली है। वास्तव में अगर इन्द्रियों के पीछे से यह जीवनदायिनी शक्ति निकाल ली जाए तो वे अपने में शक्तिहीन तथा अपने गुणों को व्यक्त करने के अयोग्य हो जाती हैं। इस कारण आत्मा ही हमारी समस्त इन्द्रियों, मन व बुद्धि की दृष्टा है। अगर यह जीवन ज्योति हम में न हो तो हम कोई भी अनुभव नहीं कर सकते हैं; हम न कुछ सोच सकते हैं न कुछ अनुभव कर सकते हैं और न ही कुछ समझ सकते हैं।

सर्वज्ञाता—इस प्रकार यदि सब प्राणियों में आत्मा ही ज्ञाता है, तब सब जीव मात्रों में, केन्द्र में वही जीवन तत्व होने के कारण वह सबकी ज्ञाता भी हो गयी। इस कारण आत्मा सर्वज्ञाता मानी गयी है। इस जगत का सत्य ज्ञान हमको उस आत्मा के माध्यम से होता है इस कारण बाह्य जगत् व हमारे अन्तरतम के आन्तरिक अनुभवों की भी ज्ञाता वही आत्मा है।

सीमित क्षेत्र को पार करनें के पश्चात् आत्मा के राज्य की सीमा आरम्भ होती है। वह एक अनुभवयोग्य अनुभव है और उसका क्षेत्र सीमा से परे है। अवश्य ही आत्मा एक सबसे परे की वस्तु है।

स्वयम्भू—हम मनुष्य रूप में एक सीमित प्राणी हैं। हम अपने सोचने व समझने के साधनों द्वारा ही इस बाह्य बहुता के पीछे जो 'वास्तविक एकता' है, उसको समझने का प्रयत्न कर सके हैं। तीन ही क्षेत्रों में हमारी बुद्धि काम कर सकी है—काल, दिशा तथा कारण। हर एक चीज़ का कारण खोजना बुद्धि का सबसे बड़ा व्यवसाय है। जब कभी भी हम संसार में कोई ऐसी वस्तु देखते हैं जिसकी हम खोज व अनुसन्धान करना चाहते हैं, तो सबसे पहले उस रहस्य का कारण खोजने के लिये हम को गोता लगाना पड़ता है। श्री 'क' का परिचय अगर इस प्रकार हो कि वे श्री 'ख' के बेटे हैं तो हमें समझने में आसानी होती है। परन्तु अगर हम निरन्तर खोज करते चले जाएँ तो पता चलेगा कि श्री 'ख' श्री 'ग' की सन्तान हैं—श्री 'ग' श्री 'घ' की तथा श्री 'घ' श्री 'ण' की। अनन्त वंशावली की सूची बन जाने के पश्चात् भी प्रश्न अधूरा ही रह जायगा कि अन्त में बचे श्री······किसकी सन्तान हैं ? इसी प्रकार संसार के कारण की क्रमावली खोजते समय एक बिन्दु ऐसा आ जाता है जहाँ हमें अपनी ये निरन्तर निष्फल प्रयास की धारा रोकने के लिये एक विश्वास का आश्रय लेना पड़ता है।

इस प्रकार दार्शनिक तौर पर हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पहले एक कारण था जिसमें निरन्तर परिवर्तन आने से इस समस्त बहुता के जगत की उत्पत्ति हुई। वह 'एक कारण' अवश्य ही अन्य कारणों से रहित अपने में ही एक कारण है। आत्मा को स्वयम्भू कह कर यही भाव यहाँ पर व्यक्त किया गया है स्वयम्भू का अर्थ है जिसका जन्म स्वयम् से ही हुआ हो।

उनका जन्म किसी अन्य वस्तु से न होकर स्वयम् अपने से हुआ है। इस कारण से लिखे मन्त्र में दार्शनिकता का यही तत्व व्यक्त है कि आत्मा किसी कारण का फल नहीं है, वह कारणों से अछूती है। वह प्रथम कारण है और अगर बुद्धि फिर भी उसका कारण पूछे तो हम

कह सके हैं कि वह कारण रहित है बुद्धि का इस व्याख्या से शान्ति नहीं मिलती। इस भाव को वे भली भाँति समझ सके हैं, जो यह जानते हैं कि आत्मा बुद्धि से समझने की वस्तु ही नहीं है। उस भाव को समझने की उड़ान में तो यह तो आत्म जन्य बुद्धि फड़फड़ा कर ही शक्तिहीन व मृतप्राय हो जायेगी।

इस प्रकार प्रथम निषेध की भाषा में, फिर विध्यात्मक भाषा में वास्तविक सत्य को समझाने के पश्चात् भी, ऋषि मंत्र के समाप्त हो जाने के पश्चात् हमें आत्मा के वैभव का पूर्ण दिग्दर्शन कराने के लिये व्याकुल हैं। और इसी कारण मन्त्र को खींचकर उन्होंने कुछ एक भद्दा सा रूप तक दे डाला है। क्योंकि उन्हें एक आभास सा अनुभव हो रहा है कि वे विद्यार्थी को उस परम सत्य का पूर्ण दिग्दर्शन न करा पाए। 'अभी भी जितना कहना था, वे कह न सके,' उन्हें इसी का आभास है।

इसीलिये अन्त में वह कह उठते हैं कि यह आत्मा व शुद्ध चैतन्यता ही वास्तव में प्रकृति की सभी छटायों के पीछे की शक्ति है। अगर अनन्त काल से आज तक नियमपूर्वक प्रकृति के ये सभी काम—ग्रहों के घूमने की गति, प्रकृति की समस्वरता, उत्पत्ति की लय—नियमपूर्वक चलते चले आ रहे हैं, तो अवश्य ही उनके पीछे एक नियन्त्रक का नियम है। यह सारा शासन, शक्ति व क्षमता उसी वास्तविक सत्य आत्मा के हैं।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो यउ विद्यायाँ रताः ॥६॥

शब्दार्थ—जो विद्या को पूजते हैं वे भी घोर अन्धकार में गिरते हैं तथा जो विद्या की उपासना करते हैं वह उससे भी घोर अन्धकार के गर्त में गिरते हैं।

इस उपनिषद् के प्रारम्भ में हम अपनी प्रारम्भिक भूमिका के

प्रबन्धनों में वह कह ही आए है कि यह उपनिषद वास्तव में इस उठते हुए प्रश्न का उत्तर है कि 'कौनसा जीवन श्रेयकर है कर्म मार्ग व ध्यान मार्ग का ? 'वैज्ञानिक तौर पर जिस किसी दार्शनिक ने जीवन का अवलोकन किया है सभी के लिये सब पीढ़ियों से यही प्रश्न उठता रहा है कि ज्ञान श्रेष्ठतर है व कर्म। आज भी धर्मसमीक्ष तथा धर्मनिरपेक्ष का वादविवाद छिड़ा हुआ है। ये केवल उस अनन्त समस्या के नये नाम हैं।

इस मन्त्र में ऋषि ने उस समस्या को छेड़ दिया है और आगे आने वाले तीनों मन्त्रों में वह अपने निष्कर्ष को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं।

ऋषि इसी समस्या की परिभाषा में वाह्य कर्म व आन्तरिक ध्यान के लिये जिन रास्तों का प्रयोग करते हैं वे विद्या व अविद्या हैं इन दोनों शब्दों का उन ऋषियों के समय में भी इतनी स्वच्छंदता से उपयोग हुआ है कि उस समय के विद्यार्थियों को भी उसका वास्तविक दार्शिनिक अर्थ समझना आवश्यक था। विद्या तथा अविद्या का उपयोग उपासना (विद्या), कर्म (अविद्या) के अर्थ से किया गया है। आम तौर से उसका एक अर्थ निकलता है कि जो कर्म कांडी जीवन में संलग्न रहते हैं वे भ्रम केघने आवरणों में फंसते चले जाते हैं। कर्म की प्रेरणा प्राणी को नहीं होती है जब उसे इच्छा के कोड़े लगते हैं और कुछ 'पात्र' पाने की आशा होती है। जब (वेदों के कर्म कांड़ी मात्र) यज्ञ इस कामना से किये जाएंगे कि इस वासना मय जगत में और लाभ और वासना की प्राप्ति हो, तो ऋषियों के उच्च दृष्टिकोण से तो वह और अन्धकार में जाता ही है। जो उपासना को आन्तरिक जीवन का अनुगमन कर रहे हैं—जो ध्यान द्वारा केवल सर्वव्यापी सत्य को खोज रहे हैं वो तो और घोर अन्धकार में गिरते हुए प्रतीत होते हैं। क्योंकि उनका ध्यान की योग्यता को प्राप्त किये बिना ही ध्यान करना है और

उसमें आवश्यक से अधिक ध्यान कर जाने पर वे ध्यान की निषेध को ही समझ सकेंगे और अन्त में आत्मा को अस्तित्व रहित होने के अन्धकार मय निरकर्श पर पहुँचेंगे। यहाँ यह कहना कि यह उससे भी अधिक अन्धकार अब है, बड़ा सार्थक हैं, वास्तव में यहाँ शाब्दिक अर्थ अन्धकार से तात्पर्य नहीं है।

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

शब्दार्थ—वे कहते हैं विद्या से एक वस्तु की प्राप्ति होती है और और दूसरी वस्तु की प्राप्ति अविद्या से होती है। ऐसा हम उन से सुनते आए हैं जिन्होंने हम को यह समझाया है।

ऋषि आम तौर पर विद्या तथा अविद्या के विषय में बतलाने के पश्चात् अब हमें उसी को एक विस्तृत रूप में समझते हैं। पहले मंत्र में उन्होंने उस काल के (जिसमें कि मंत्र लिखा गया है) अनुसार थोड़ी शास्त्र की सहायता लेकर उसके विषय में लिखा था। अब वे उसी विचार को क्रान्तिकारी घोषण के साथ दुहरा कर नया जीवन प्रदान कर रहे हैं। ऐसा करने में उन्हें भी अपनी प्रामाणिता उद्धृत करनी पड़ती है। इस कारण हमें यह लगता है कि ऋषि इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि प्रचलित अर्थ सत्य नहीं है। वे कहते हैं कि विद्या तथा अविद्या के फल भिन्न-भिन्न है। और आम तौर पर प्रचलित अर्थ उनसे नहीं निकलना चाहिये।

यह कहने के पश्चात् ही ऋषि यह कह देने म भी कोई समय-नष्ट नहीं करते कि यह केवल उनके मस्तिप्क की उपज ही नहीं है परन्तु यह वह है जिसे उनके पूर्वज सिद्धजनों ने उन्हें समझाया है। कोई प्राणी कितना भी बुद्धिमान क्यों न हो उसे यह अधिकार ही नहीं है कि वह एक दार्शिनिक सत्य की घोषण कर के आम जनता पर उसे थोप दे।

अगर कोई ऐसे सत्य की घोषणा भी करता है तो उसकी सत्यता को जब तक समय ही परख कर सत्य घोषित नहीं कर देता, वह स्वीकार नहीं किया जाता है। पश्चिमी देशों के विपरीत हम उस समय कसौटी पर कसने तथा पीढ़ियों के साधुओं के निजी अनुभव द्वारा परखने पर ही स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार हिन्दू धर्म एक किसी अवतार व मसीहे का निकाला हुआ नहीं है यह कई पीढ़ियों के सिद्ध आचार्यों के हृदय के अन्तरतम के अनुभव करती चली आ रही है इन भक्त आर्य्यों ने केवल उसी सत्य को आलाना है जिसे निरन्तर नयी पीढ़ियों ने कस कर और अज़मा कर भली प्रकार ठोक बजा लिया है।

विद्या तथा अविद्या दोनों ही बन्धन है। ज्ञान अवश्य ही अज्ञान की शृंखला से मुक करता है परन्तु ज्ञान स्कय अनन्त के सन्मुख एक दुख-दायी सीमा है। अज्ञान के भ्रमों का निवारण भलेही कोई ज्ञान से कर ले परन्तु फिर वह ज्ञान की सीमाओं से बंध जायगा। परम सिद्धता दोनों के परे निकल जाने के पश्चात् होती है।

निम्नलिखित मन्त्र में हमें विद्या तथा अविद्या का परस्पर कैसा सहयोग होना चाहिये इसका ठीक ठीक संकेत मिलता है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ् सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

शब्दार्थ—वो जिन्हें एक समय में दोनों विद्या तथा अविद्या का ज्ञान होता है वह आयु पर अविद्या द्वारा विजय प्राप्त करता है तथा विद्या द्वारा वह अमरत्व प्राप्त करता है।

ऋषि आर्य्यों की पीढ़ियों को, यह सारगर्भित मन्त्र निष्क्रियता में सक्रियता के विवेचन के रूप में देते हैं। पहले मन्त्र में उन्होंने दोनों विद्या तथा अविद्या का खण्डन किया है और यह बताया है कि जब उन

दोनों में से एक को छोड़कर दूसरे को लेकर साधक चलता है तब वह केवल अन्धकार की ओर अग्रसर होता है। इसी कारण आपके पूर्व के ऋषियों के कथन को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करके ईशावास्योपनिषद के साधु ऋषि दोनों के सहयोग का अनुगमन किस प्रकार किया जा सका है इसको संक्षेप में बतलाते हैं। अगर अलग अलग उन पर अनुगमन नहीं किया जा सका तो फिर विद्याओं के लिये दोनों का साथ साथ अनुगमन करने का मार्ग ही खुला रह जाता है। कर्म तथा ज्ञान का सम्मिश्रण आधुनिक आचार्यों द्वारा भी पक्ष समर्थन किया गया है। परन्तु इस सम्मिश्रण की कला पर पूरा प्रकाश नहीं डाला गया है। यहाँ इस उपनिषद में यह इस प्रकार समझाया गया है कि शंका को कोई स्थान ही नहीं रह जाता और इन भावों को कोई स्थान ही नहीं रह जाता और इन भावों को व्यक्त करने की शैली वेदान्तिक घोषणा के समान पूर्ण तथा विस्तृत है। वे कहते हैं कि जो इन दोनों विद्या तथा अविद्या के सहयोग से चलता है वह मृत्यु पर अविद्या द्वारा विजय प्राप्त करता है तथा विद्या द्वारा अमरत्व की प्राप्ति करता है।

आजकल तो सभी सामाजिक, साम्प्रदायिक, राजनैतिक व अन्तर्राष्ट्रीय सभी को क्षेत्रों में काम करने का ज्वर सा चढ़ा हुआ है। हर एक प्राक्षी नेता बना हुआ है और जो नेता नहीं है वह नेता बनने के सुअवसर की प्रतीक्षा में बैठा है और औरों की नज़रों में न सही तो अपनी नज़रों में तो नेता के पूर्ण गुणों से सम्पन्न है। परन्तु इसे नेताओं के हाते हुए भी और उनके नेतृत्व में संसार के कार्य्य कम चलते हुए भी आज केवल उलझन व दुःख की वृद्धि हो रही है और वह निरन्तर धीरे धीरे बड़े सन्तुलन के साथ बाहर से विनाश की लोर ही अग्रसित होती जा रही हैं। आज कल तो विद्वान भी चकरा गये हैं कि आखिर ऐसा है गयों। इस मन्त्र की पवित्र गहराई में दोनों ही इस रोग का निदान तथा उपचार है।

विद्या के बिना वाह्य अविद्या के संसार में कर्म करना असम्भव है;

असम्भव न भी सही यो उस कर्म से कुछ लाभ तो होता नहीं। इस जगत की सारी व्याप्त बहुधा को एक में गूँथ कर चलने वाली लय का ज्ञान हुए बिना जो कर्म किया जाएगा वह केवल अधिक उलझन ही पैदा करेगा। ये समस्त नेता गण, एकता, एक रसना, शान्ति और हर्ष लाने का निरन्तर प्रयास कर रहे हैं परन्तु उनमें से कोई भी यह नहीं समझता कि यह है क्या। वीणा के गहरे तारों में से भी कैसा भी गुणी वादक क्यों न हो मधुर संगीत लहरी की एक तान भी न निकाल सकेगा।

यह मन्त्र कहता है कि अवश्य ही केवल अनुभव किया हुआ आत्म-ज्ञान ही हमें अत्र मुनि व अमरत्व का जीवन दे सका है। क्वोंकि तभी हमें यह ज्ञात होगा कि हम निरन्तर मृत्यु का शिकार होने वाले शरीर, मन, बुद्धि के साधनों के पिण्ड ही नहीं है। मृत्यु जड़ तत्व के भाग्य में है अमरत्व आत्मा की प्राप्य है।

विद्या प्राप्त करनें के पश्चात् इसी जीवन में कुछ काल हमें मुक्त जीवन के पश्चात् रहना भी पड़ता है—उसे अवतार, दिव्य पुरुष, मसीहा कुछ भी कह लीजिये। उसके पश्चात् उसका यह कर्त्तव्य नहीं होता कि शान्त सुख का अनुभव करने के हेतु वह पर्वत की किसी कन्दरा में घुस जाव। परन्तु इसके विपरींत उसको इस जगत में कर्म करके अपने आत्म साक्षात्कार की पूर्ति करनी पड़ती है।

हम पूर्व के मन्त्रों (६ व ७) में यह पढ़ चुके हैं कि अपनी आत्मा की दिव्यता का अनुभव करने के पश्चात् आत्म साक्षात्कार पूरा नहीं हो जाता। उसकी पूर्ति तब होती है जब वह सब प्राणीमात्र में अपनी आत्मा का दिग्दर्शन करने लग जाता है। जब तक कि हम अपने अनुभव में बाहर का अपूर्णता बहुता का जगत भी सम्मिलित न कर लें हमारा आत्म साक्षात्कार पूर्ण नहीं कहलाता। आत्मज्ञान में गहराई से पैठा हुआ आत्मदर्शी ऋषि संसार के लिए उसके अप्रतिहत

तेज तथा सफलतामय भविष्य के निर्माण में सबसे अधिक सूक्ष्म कर्त्तृत्व रखता है।

ऐसे प्राणी जो इस प्रकार अपनी पीढ़ी के प्राणीमात्र को एकत्रित करके उनको जीवन के उच्च ध्येयों की ओर प्रेरित करते हैं वे जगत् के स्मृति पट पर अचल रेखा खींच जाते हैं। कृतज्ञ प्राणियों के ऊपर खींची उनकी यह अमिट स्मृति उन्हें जगत् की सतह पर निरन्तर नया जीवन प्रदान करती रहती है। हर एक जीव को ग्रस्त करने वाली मृत्यु पर ऐसे प्राणियों ने सहज ही में विजय पा ली है। उदाहरणस्वरूप बुद्ध, ईसा, मुहम्मद व ज़ोरोआस्टर हमारे सम्मुख प्रस्तुत हैं। ये महान् उपदेशक समाज की उन्नति के लिए ऐसी सेवा कर गये हैं और इसीसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी के सामाजिक संगठन के इस प्रकार अङ्ग बन गये हैं कि उनकी स्मृति अजर अमर हो गयी है।

इस ऐतिहासिक अमरत्व—जो कि पीछे आने वाली पीढ़ियों ने अपने इन महान् गुरु को दिया है—अतिरिक्त इन सिद्धजनों ने अविद्या द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली थी। इस अविद्या द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का कारण उनकी अपनी विद्या थी।

मृत्यु में तभी तक गहनता है और उसकी धमकी तभी तक है जब तक हम उससे डरते हैं। एक बार अपना वास्तविक स्वरूप समझ जाने के पश्चात् तब इस पदार्थों के संसार में जो परिवर्तन हुआ करता है जिसे हम मृत्यु के नाम से पुकारते हैं उसका कोई भय नहीं रहता। मृत्यु केवल उसे ही डरा सकी है जो भ्रम से अपने शरीर को ही 'स्वयं' समझ बैठा है। उसके लिए जिसने कि इसको आत्मा समझ लिया है उसके लिए मृत्यु शरीर के क्षेत्र में केवल एक भ्रमोत्पादक परिवर्तन है। अपने अज्ञान के काल में प्राणी को उस पर एक आधिपत्य की भावना हो गयी थी।

विद्या द्वारा अमरत्व की प्राप्ति करते हैं—हम अभी देख चुके हैं कि मृत्यु पदार्थ तथा Spirit के बीच केवल पदार्थ के ही भाग्य में है। घड़ा टूट कर 'घटाकाश' (घड़े के अन्दर का रिक्त स्थान) का अन्त चाहे कर दे परन्तु वह स्थान जो घड़े के अन्दर था वह तो सर्वव्यापी आकाश था उसका न अन्त ही हुआ न विनाश वह अपरिवर्तित ही रही। इसी प्रकार जन्म तथा मृत्यु, विनाश तथा रोग, बन्धन तथा मुक्ति, दुख तथा सुख, सफलता तथा निराशा ये सभी अनुभव एक अहं भावना से आते हैं जब प्राणी परम चेतना को इन बाह्यकोषों में समझने लगता है। देवत्व का अनुभव होते ही अहं भावना का विनाश शुरू हो जाता है।

अमर सत्य वास्तव में अहंहीन नश्वर ही है। जब एक साधक अपनी अहंम की भावना को पूर्णतः छोड़ देता है—दूसरे शब्दों में जब साधक ध्यान द्वारा मन, बुद्धि व शरीर से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने लगता है तब वह अपने वास्तविक परम चैतन्य आत्मा के रूप को फिर से खोज लेता है। (जैसा ४, ५ व ८ मन्त्रों में दिया जा चुका है) इसके पश्चात् कर्म्मों के फल की कोई शृङ्खला उसे संसार चक्र से नहीं बाँध सकी। फिर हमारे शब्दों में उसका अमर हो जाना व अमरत्व को प्राप्त कर लेना स्वाभाविक ही है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ॥१२॥

शब्दार्थ—वे जो असम्भूति साकार की उपासना करते हैं वे अन्धकार के गर्त में गिरते हैं और जो सम्भूत (निराकार परमेश्वर) की उपासना करते हैं वे उससे भी घोर अन्धकार के गर्त में गिरते हैं।

अंक संख्या १२, १३ तथा १४ के मन्त्रों में भी वही भाव व्यक्त है जो पहले ६, १० व ११ अंक संख्या वाले मन्त्रों में व्यक्त हो चुका

है। ये भाव अधिक ग्राह्य तथा अधिक स्पष्ट करने के लिए ही फिर से दुहराये गये हैं। दयालु गुरु की राय में वह विचार जो कि पहले तीन मन्त्रों में अभी व्यक्त किये जा चुके हैं, इतने सूक्ष्म हैं कि सम्भवतः पहली बार सुनने में साधक की समझ में पूर्णतः न आयगा और एक वेदान्त के साधक के लिये विद्या तथा अविद्या का परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह ठीक-ठीक समझना अत्यन्त आवश्यक तथा अत्यन्त महत्त्व का है।

पहले मन्त्रों में यह तो कहा ही जा चुका है कि विद्या तथा अविद्या परस्पर एक दूसरे का खण्डन करने वाले विरोधी भाव नहीं हैं, एक दूसरे के लिये निश्चय ही घातक है और उन दोनों का कोई भी सम्मिश्रण अविवेक से न करना चाहिये। यह भी कहा जा चुका है कि वे एक दूसरे के सहायक हैं, और दोनों का क्रम अत्यन्त बुद्धिमानी से करना चाहिये। पहले, हमारी इच्छायें हमारे कर्म (अविद्या) पर अनुशासन करती हैं। अपने आपको मानसिक बहार की उमंग में लाने के लिए हमें पहले अपने 'तमस्' का अन्त करना पड़ेगा। अपने तमस् का अन्त करके इस मानसिक बहार की उमंग का अनुभव हमें निस्वार्थ कर्म से हो सका है। इसके पश्चात् यह निस्वार्थ कर्म हमारे मन व बुद्धि की शुद्धि करके हमें 'ध्यान' करने के योग्य बनाता है। इसके पश्चात् अध्ययन तथा नियमपूर्वक ध्यान द्वारा साधक को ज्ञान (विद्या) की प्राप्ति होती है। यहाँ पर यही भाव विद्या तथा अविद्या के स्थान पर दूसरे शब्दों के प्रयोग से दर्शाया गया है।

यहाँ पर जिन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है वह 'असम्भूति' व 'सम्भूति' हैं। आप सब के लिये असम्भूति का अर्थ 'साकार' देवता तथा सम्भूति का अर्थ 'निराकार देवता' के रूप में समझना सरल होगा। भक्तों के बीच सदैव से साकार व निराकार देवता की आराधना व ध्यान का मतभेद चलता चला आया है—और अभी चल भी रहा है।

वैदिक काल में भी यजु, अग्नि, वरुण आदि साकार देवता थे जैसे कि आजकल हमारे राम, कृष्ण, स्कन्द आदि पौराणिक देवता हैं।

यही मतभेद आज हमारे जीवन में अधिक कार्यशील रूप में उत्तर आया है और अब यह वास्तव में 'ज्ञान और भक्ति' के बीच कौन उच्च कोटि का है इस मतभेद में परिवर्तित हो गया है। यहाँ उपनिषद् हमें यह समझाने के लिए कि हमारी यह समस्या आधारहीन तथा अर्थहीन है हमारे सम्मुख एक के पश्चात् दूसरी घोषणा कर रही है। जैसे कि हम अभी देख चुके हैं कि विद्या तथा अविद्या के बीच भी कोई विरोधी भाव नहीं है और वास्तव में एक दूसरे के सहायक हैं। इसी प्रकार भक्ति और ज्ञान भी एक दूसरे के विरोधी भाव नहीं हैं। एक दूसरे की गोदी में ही पल कर वे शक्तिशाली बनते हैं और बढ़ते हैं।

अन्य देवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

शब्दार्थ—निराकार की उपासना से एक फल की प्राप्ति होती है, साकार की उपासना से दूसरे फल की प्राप्ति होती है; ऐसा हम उन विद्वान् प्राणियों से सुनते आ रहे हैं जिन्होंने हमें यह समझाया है।

जैसा कि अभी हम पूर्वकथित तीन मन्त्रों के भव्य मंत्र में पढ़ चुके हैं ऋषि हमें यह समझाना चाहते हैं कि सम्भूति तथा असम्भूति का आत्मज्ञान की कला में वह अर्थ नहीं है जो हम आमतौर पर निकाल लिया करते हैं परन्तु इसका यहाँ पर एक विशेष अर्थ है। और वे इस बात की ओर फिर से ध्यान आकर्षित करते हैं कि यह उनके मस्तिष्क की निकाली हुई योजना नहीं है परन्तु यह आचार्य गुरुओं की निरन्तर चली आने वाली पीढ़ियों तथा उनके शिष्यों के अनुभव का निष्कर्ष है।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

शब्दार्थ—जो दोनों सम्भूत तथा असम्भूत की उपासना करता है वह सम्भूति द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है और असम्भूति द्वारा अमरत्व की प्राप्ति करता है।

पूर्व कथित तीन मंत्रों के अन्त के मंत्र में जो भाव व्यक्त था वही भाव इस मंत्र में भी व्यक्त है। यहाँ केवल विद्या तथा अविद्या के स्थान पर सम्भूति व असम्भूति देव शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस मंत्र में—जिन पर कि हम विवेचन कर रहे हैं, इसके पूर्व के मंत्र का भाव भी आ गया है और उसके ऊपर से इसमें अपनी भी अर्थ की एक सार-गर्भिता तथा संकेतिकता अलग है।

मंत्रों में दिये हुए संकेतों से भक्ति तथा ज्ञान का मतभेद तो अर्थ-हीन और थोथा प्रमाणित हो ही चुका है। यहाँ वे कहते हैं कि ये आपस में विरोधात्मक नहीं हैं पर वे वास्तव में एक दूसरे के सहायक ह और उनका अनुमान एक क्रम से करना चाहिये। एक व्यक्तिगत देव का पूजन उतना ही आवश्यक है जितना उच्च ध्यान। आकार रहित स्वरूप पर निरन्तर एकाग्र ध्यान आत्मा की परम सिद्धता के लिए आवश्यक है। यहाँ ऋषि के ही शब्दों में असम्भूति (साकार रूप देव) की आराधना से मृत्यु के दुःखों तथा सीमा के बन्धनों के दुःख से निवृत्ति मिल जाती है। उसके पश्चात् निराकार स्वरूप पर ध्यान और मनन करके हम अपनी सिद्धता को चरम सीमा तक ले जाते हैं। निराकार स्वरूप का केवल ध्यान हमें आत्म-साक्षात्कार का निजी अनु-भव तो दे सका है परन्तु उसे जीवन मुक्त की शान्ति तथा निरुद्वेग हृदय देव को प्रेमपाश में बाँधे बिना नहीं मिल सकी है।

केवल वेदान्त की सिद्धता किसी को इस योग्य नहीं बनाती कि वह अविद्या के (कर्म के) क्षेत्र में उतर कर उन जन-समुदायों में काम करके उनका उद्धार करें और जिस गन्दे नाले में वे गिर गये हैं उसमें से उन्हें मानसिक और बौद्धिक रूप से उबारें। अगर उसकी आधारभूमि में

निरन्तर हृदय देव के प्रेम की संरक्षता नहीं मिलेगी तो उस महान् गुरु की शांति व स्थिरता नयी-नयी अड़चनों बाधाओं में पड़कर भंग होती रहेगी।

श्री राम-कृष्ण परम-हंस की महानता व उनका वैभव अवश्य ही उनके आत्मा के निजी अनुभव में था परन्तु उनके जीवन की स्थिरता व शान्ति का आधार उनकी प्रेममयी दक्षिणेश्वर माँ का आशीर्वाद था। शंकर—हिन्दू धर्म का उद्धारक—की अमर ज्योति काल व स्थान के मेघों के बीच से भी झिलमिलाती रही, अवश्य ही क्योंकि उनमें आत्मा की निजी अनुभव की दिव्य शक्ति थी, परन्तु वे अपने समय में निरन्तर उठने वाले शत्रुओं का सामना, भारत के इस समस्त विस्तृत क्षेत्र पर विनाशग्रस्त हिन्दूधर्म का उद्धार कर उसको विजय का मुकुट पहनाने से कार्य्यों की शक्ति, ज्ञान की देवी माँ शारदा के चरणों में अटल विश्वास द्वारा पा सके।

यहाँ इस मंत्र में 'मृत्यु' शब्द के अर्थ के अन्तर्गत सीमित संसार के सभी नश्वर पदार्थ आ जाते हैं। केवल वही ज्ञानी जिस के हृदय में राधा के हृदय की सी भक्ति हो, सच्चा पार्थ सारथी बन सका है। केवल वही पतन की आसुरिक शक्तियों तथा उस तंद्रा से जिस में इतिहास गिर गया था, रथ को सफलता के क्षेत्र से हाँक कर, विजय के मार्ग पर ला पहुँचाने की शक्ति रखता है। इस मंत्र का शेष अर्थ तो स्पष्ट ही है क्योंकि वह पूर्व व्यक्त मंत्रों के अर्थ का दुहराना मात्र है।

अब हम उपनिषद की अन्तिम विचारधारा को पहुँचते हैं। बहुत से भाष्यकारों के मत से वह प्रक्षेप भी हो सकते हैं।

कुछ शंकर जैसे विख्यात भाष्यकारों के भ्रम में यह मृत्यु शय्या पर पड़े हुए प्राणी के नीचे जो जीवन विमुक्त हो रहा है, एक प्रार्थना है। रूढ़िवादी हिन्दू घरों में यह मंत्र मृतक के कानों के पास दुहराया

जाता है। परन्तु उनमें से बहुत कम उसके वास्तविक अर्थ तथा उसके अर्थ के अन्तर्गत भावों को समझते हैं।

उपनिषदों के साहित्य में से सर्वप्रथम उपनिषद में ही ये तीन प्रार्थना के सुन्दर मंत्र मानों उनकी हँसी उड़ा रहे हैं जो वेदान्त पर भक्तिहीनता का आरोप लगाते हैं। ये तीनों मंत्र इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि वेदान्त के आचार्य 'साकार देव' की आराधना, विश्वास व श्रद्धा के विरोधी न थे।

वैदिक काल में आराधना के लिए आजकल के पौराणिक देवता न थे। क्योंकि वे हिन्दू आध्यात्मिक साहित्य में बाद की देन है। इसी कारण यह प्रार्थना सूर्य्य देव को सम्बोधित करके की गयी है। आर्यों की तीव्र बुद्धि ने सूर्य्य को संसार का महान सृष्टा, पालक, संहारक का प्रतीक माना था। आजकल अपने वैज्ञानिक काल के अनुभवों से सिद्ध वैदिक काल के इस विश्वास की हमें प्रशंसा ही करनी पड़ती है। सूर्य्य देव के बिना यह जगत अव्यविस्थत होता सुव्यवस्थित नहीं, इस महान शक्तिदायक देव के बिना संसार के धरातल पर जीवन ही दुर्लभ होता।

इस भाग को प्रारंभ करने के पूर्व मैं इस ओर से आप को सावधान कर देना चाहता हूँ कि इस प्रार्थना को केवल भावों का एक उद्‌गार समझ लेना ऋषियों की पवित्र बुद्धिमता की गहराई तक न पहुँच सकना ही है। वेदान्त के एक साधक के लिए ये अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा सारगर्भित हैं। जैसे-जैसे हम एक मंत्र को खोल कर उसके बहुमूल्य विषय-वस्तु को देखते जायेंगे वैसे-वैसे हमारे सम्मुख इसकी सचाई भी प्रमाणित होती चली जायगी।

मेरे अपने विचार से प्रत्येक सच्चे साधक को प्रार्थना के ये मंत्र अर्थ के साथ कंठस्थ होने चाहियें। एक निस्वार्थ साधन के लिए यह आदर्श प्रार्थना है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।। १५ ।।

शब्दार्थ—सत्य की श्रीमुख एक सुनहले आवरण से ढका है। हे सूर्य्य मुझ साधक के लिए उस आवरण को उठा लो जिससे कि मैं उस सत्य का दर्शन कर सकूँ।

बाह्य रूप से यह प्रार्थना सूर्य्य देव का आवाहन करने के हेतु लिखी गयी मालूम पड़ती है कि हे सूर्य्य देव आप की कृपा व आशीर्वाद से साधक में इतनी शक्ति आ जाय कि वह उस आवरण को उतार फेंके जो कि सत्य को उससे छिपाये हुए है और वह उस सत्य का दर्शन कर सके। और यही एक मृत्यु शय्या पर पड़े हुए प्राणी की प्रार्थना है।

इस अनुपम प्रार्थना के शाब्दिक अर्थ को ही समझना केवल उसके बाह्य सौंदर्य्य में ही उलझ जाना है। वास्तव में हम जितना ही अधिक इसकी गहराई में उतरेंगे उतना ही इस आन्नदमय कोश के मर्म को समझ सकेंगे।

वेदान्त में प्रार्थना, एक अहंभावी प्राणी को परम चैतन्यता में अपने व्यक्तित्व को तीन बार देने का एक प्रयास है। परम चैतन्यता को सम्बोधित करके अहंक भावी प्राणी इस मंत्र का उच्चारण कर रहा है। सूर्य्य देव को सम्बोधित करने का वह शब्द बड़ी चतुराई से छाँटा गया है। 'पूषन' सूर्य्य देव के असंख्य पर्यायवाची शब्दों में से एक है। उसका अर्थ है पालन करने वाला व जीवन दायक। सूर्य्य समस्त सार का केन्द्र है; वह स्वयम् तो अचल है, परन्तु केवल अपनी उपस्थित मात्र से वह आपने चारों ओर घूमने वाले ग्रहों को संतुलित रखता है; और इस सुव्यवस्थित जगत में पालन व शक्ति का आधार है। साधक के हृदय में वह पालक व शक्तिशाली आत्मा का प्रतीक है। वह आत्मा जो कि स्वयं अचल है, परन्तु बाह्य पदार्थ जगत के सभी कार्य क्षेत्रों

को शक्तिदायिनी है। अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा का दर्शन कर लेने के पश्चात् अनेक भावना का अन्त हो जाता है वह मृत हो जाती है। इसी कारण शंकर कहते हैं कि यह मरते हुए प्राणी की अन्तिम प्रार्थना है। यहाँ उसका प्राणी शब्द से अर्थ अहं भावी प्राणी से था। हमें इसका यह शाब्दिक अर्थ नहीं समझ लेना है कि मृत शय्या पर हुए वृद्ध प्राणी की यह अन्तिम प्रार्थना है। यह तो विद्यवान् आध्यात्मिक साधक का ध्यान के आसन पर बैठकर अपनी उस अहं भावना को हटा फेंकने का दिव्य प्रयास है जो अभी तक उससे चिपट रही है।

मन और बुद्धि से सम्बन्धित चैतन्यता (अहं) जब परम चैतन्यता को समझने का प्रयास करने लगती है तब वह उसके प्रकाश से चौंधिया जाती है इसी कारण वह परम चैतन्यता से प्रार्थना कर रही है कि वह जिस आवरण से अपने को ढके है उसको उतार फेंके। मन और बुद्धि जब किसी चीज़ को देखने निकलते हैं तो वे केवल संसार में तत्त्वों के बने आकार व नाम ही देख व समझ बूझ सके हैं। इनमें व्यस्त अहं के लिए उनसे परे जाकर आत्मा को देखना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार यह तत्त्वों का संसार वह चमकीला और सुन्दर आवरण है जो अपने पीछे सत्य को छिपाये है। सत्य के द्वार पर खड़ा होकर साधक पुकार कर कह रहा है कि हे जीवनदायक (पूषन) इन तत्त्वों के बने द्वार को खोल दो कि मैं परम चैतन्यता के वैभव का दर्शन कर सकूँ।

साधक को इस प्रकार सत्य से अपना आवरण हटा कर दर्शन देने की प्रार्थना करने का अधिकार क्या है? यहाँ साधक इसकी घोषणा करके वह सत्य का साधक है और सत्य उसके सम्मुख अपना दिग्दर्शन करे, सत्य के प्रति अपना अधिकार दिखलाता है।

यह बड़ महत्त्व का विषय है क्योंकि साधक का लक्ष्य भी सत्य है, और उस लक्ष्य तक जाने का योग भी सत्य है, और सत्य के इस मार्ग में प्रत्येक सोपान भी सत्य ही है। धर्म में लक्ष्य तक पहुँचने के साधन भी लक्ष्य

ही के समान पवित्र होते हैं। पशुता व धोखे का मार्ग शान्ति उन्नति व सिद्धता के लिए नहीं है।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुष: सोऽहमस्मि ॥२६॥

शब्दार्थ—हे पूषन् (सूर्य-जीवनदायक) हे सर्व देव हे, सब के नियं-त्रक, सूर्य, प्रजापतिसुत, अपनी किरणों को तितर-बितर कर दो और अपने इस प्रज्वलित प्रकाश को एकत्रित कर लो। मैं तुम्हारे तेजस्वी स्वरूप को देख रहा हूँ। मैं वही हूँ, मैं तुम्हारे अन्दर का व्याप्त पुरुष हूँ।

सूर्य भगवान् को सम्बोधित करने में जिन पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है वे बड़े महत्त्व के हैं; क्योंकि उनसे हमको इसका प्रत्यक्ष आभास मिल जाता है कि यह प्रार्थना वास्तव में किससे की जा रही है। इस प्रार्थना का दार्शनिक महत्त्व अपने संकेतिकता द्वारा ही स्पष्ट हो जाता है इसमें सूर्य देव के विशेषण बहुत चतुराई से बैठाये गये हैं। वे सभी विशेषण आत्मा पर भी लागू होते हैं। जीवन-दायक, सर्व देव, सब वे नियंत्रक आदि पूर्णत: मनुष्य के आध्यात्मिक केन्द्र पर भी लागू होते हैं। और प्रार्थना के अनुरूप प्रार्थी अहं—अपने आन्तरिक व्यक्तित्व को घुला कर मन और बुद्धि के परे पहुँच कर—सत्य को पाकर शान्त हो जाता है, सत्य के दिग्दर्शन का निजी अनुभव प्राप्त करता है।

यह भाव कि आत्मा को न देखा जा सका है, न उसको छुआ जा सका है और न उसको समझा जा सका है—परन्तु यह वास्तव में एक निजी अनुभव से ही जानी जा सकी है—इस घोषणा से स्पष्ट है कि मैं वही हूँ—वह पुरुष जो तुम्हारे अन्दर व्याप्त है। यह घोषणा

सिद्धता प्राप्त करने के पश्चात् एक सिद्ध पुरुष भी नहीं है परन्तु जब वह फिर मन और बुद्धि के जगत् में आ जाता है तब वह पुकार उठता है कि मैं इस शरीर से सम्बन्धित प्राणी नहीं हूँ—वह सोचता है अपने भ्रम में वह अपने शरीर को ही अपना प्राण समझता रहा—परन्तु अब ज्ञान के प्रकाश के उदय होने के पश्चात् वह इस का अनुभव करता है कि वह परम चैतन्यता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, 'वही पुरुष उसमें व्याप्त है।

'ब्रह्म को जानने वाला ही ब्रह्म बन जाता है' एक उपनिषद् की ऐसी घोषणा है जो बार-बार दुहरायी जाती है। और सभी उपनिषद् उसके सत्य को प्रमाणिक करते हैं। मनुष्य ईश्वर को नहीं देख सका परन्तु ईश्वर एक ऐसी सत्ता नहीं है जिसका अनुभव न किया जा सके। देवत्व एक अवश्यभावी सत्ता है। परन्तु उसका अनुभव व उस का जीवन एक दिव्य पुरुष ही बता सका है मनुष्य नहीं। क्योंकि जो मनुष्य इस देवत्व का अनुभव कर लेता है वह मनुष्य न रह कर स्वयं देवता बन जाता है। इस पृथ्वी पर भले ही कुछ दिनों के लिए वह मनुष्य देह धर कर चलता फिरता रहे। अहं का विनाश होने के पश्चात् सिद्धता की लौ जाग उठती है—वही दिव्यता का संदेश है।

लहर जिसने अपने अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया वह सागर का अनुभव करती है और सागर को उमझती है। वह प्रेत जिसको अस्तित्व का ज्ञान हो गया अपनी वास्तविक सत्ता खम्भे में देखने लग जाता है। प्राणी देवता का अनुभव करके स्वयम् अमर देव बन जाता है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर॥१७॥

शब्दार्थ—मेरे प्राण सर्वव्यापी वायु में लय हो जायँ, ये शरीर अग्नि द्वारा जल कर राख हो जाय। ॐ हे मन ! याद रखो मेरे कर्म ! हे मन ! याद रखो, याद रखो मेरे कर्म ! ध्यानावस्था में, सत्य के

पूर्ण निजी अनुभव के पश्चात् जब कि अहं भावी प्राणी ने इनका अनुभव कर लिया कि वह 'यह ही है उसमें व्याप्त पुरुष, मृत्यु के समय ऐसे सिद्ध आचार्य की अवस्था क्या होगी ? जब कि अहं भावना परम चैतन्यता में लीन हो गयी है तब उसके शरीर, प्राण, मन, बुद्धि बाह्य आवरणों की ओर क्या होगा । इस मन्त्र में इन्हीं प्रश्नों का उत्तर है ।

इस प्रकार आत्मा साक्षात्कार होने के पश्चात् प्राणी मृत्यु का सामना उसी प्रकार करता है जिस प्रकार वह जीवन में अनेकों नित प्रतिदिन होने वाले परिवर्तनों का करता है । उसके लिये मृत्यु एक दुखदायी अन्त न होकर अमरत्व जीवन का सुखद प्रारम्भ होता है। इस कारण वह तो पुकार कर यही प्रार्थना कर सका है कि उसके प्राण सर्वव्यापी वायु में लीन हो जायँ और उसका शरीर उस धूल में मिल जाय जिससे वह बना था। मन से वह कहता है कि तुमने जितने पिछले कर्म करे हैं उनको याद रखो ।

एक सिद्ध साधु को अपने ध्यान के उत्कर्ष में कुछ याद रहेगा तो वह केवल उसका सत्य का अनुभव होगा जिसे वह भुला नहीं सका है । वास्तव में सदैव हमें अपने निजी गहन अनुभव ही याद रह जाते हैं । इस कारण जब मंत्र में ऋषि यह कहते हैं कि हे मन उसका स्मरण करो—उसका स्मरण करो, तो उनका अभिप्राय होता है कि विदा होते समय उनका मन किसी और विचार में बहक न जाय; हम मनुष्य जीव होकर अपने आप को इस निरन्तर ध्यान में स्थिर कर सकें ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्ति विधेम ॥१८॥

शब्दार्थ—हे अग्नि हमें धन स्वरूप परमेश्वर तक पहुँचाने के

लिए शुभ मार्ग से ले चलिए, क्योंकि हे देव ! आप सभी मार्गों के ज्ञाता हैं। हममें सभी अशुभ आकर्षणों से कर दीजिए। हम आप के सम्मुख आदर से नत मस्तक होते हैं।

इस उपनिषद् के इस अन्तिम मंत्र में सिद्ध पुरुष अपने साकार देव को मरते समय भी पुकार कर कहता है कि उस महान् लक्ष्य तक मुझे शुभ मार्ग से ले चलो। इस प्रकार एक सिद्ध प्राणी के मुख से एक साकार देव के प्रति ऐसी विनम्र प्रार्थना के शब्द कहला कर ऋषि इस ओर साधक को यह संकेत करते हैं कि साधना के काल में प्रत्येक वेदान्तिक साधक को एक साकार देव के प्रति अटल विश्वास, भक्ति व श्रद्धा रखना अत्यन्त आवश्यक है—यह उसकी साधना का एक अत्यन्त आवश्यक अंग है।

भक्तगण इस ओर ध्यान दें। वेदान्त उनका शत्रु नहीं है; वेदान्ती गण अगर भक्ति से अपने वेदान्त धर्म को विमुख समझते हैं तो इसे पढ़ कर लज्जित हों। वैदिक काल में अग्नि देवता थे; यहाँ अग्नि देव को आवाहन करने के हेतु प्रार्थना की जाती है।

यहाँ इस मंत्र में अग्नि देव का आवाहन उस मार्ग पर ले चलने के लिए है जिससे धन की प्राप्ति होती है। पूँजीवादी यह न समझ बैठें कि धन से गिन्नियों व अशर्फियों का अर्थ है। यहाँ अर्थशास्त्री के धन का अर्थ नहीं है, पर यहाँ आध्यामिक साधक के धन से अभिप्राय है। इस कारण यहाँ धन शब्द से अभिप्राय मुक्ति, आनन्द व शान्ति से है। मृत्यु शय्या पर पड़े हुए साधक की केवल परम गति पाने की ही उत्कंठा है। बाकी प्रतिपादन तो प्रत्यक्ष हैं ही।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ तत्सत् ।